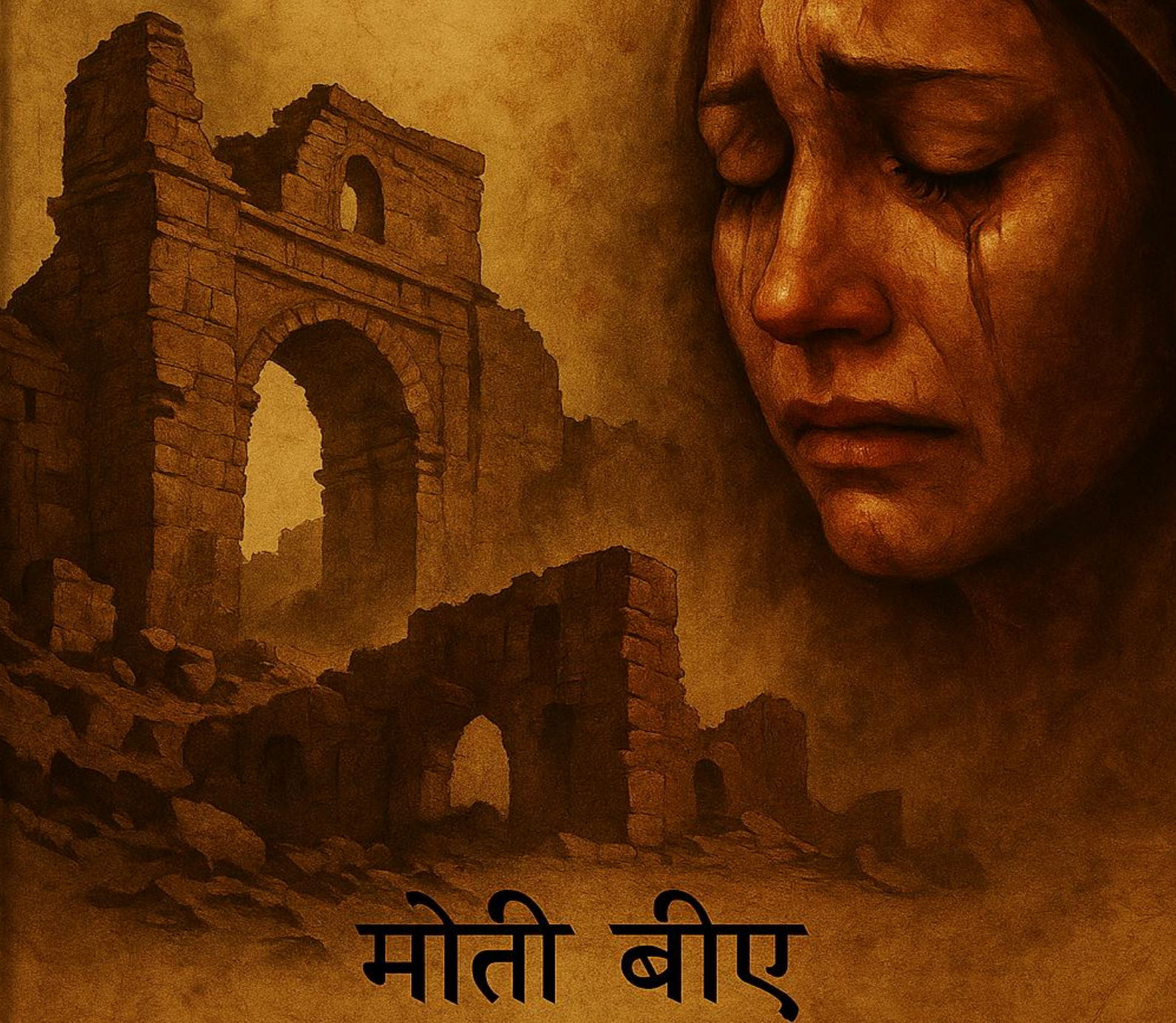


इतिहास का दर्द



मोती बीए





Title: ITIHAS KA DARD

Author's name: MOTI B.A.

Published by : MOTILAL WELFARE SEWA TRUST

Publisher's Address-

**MOTI BA NIWAS,
NANDANA WARD WEST
BARHAJ, DEORIA,
U.P. 274601**

Printer's Details-

**Faiz & Jaish Publishing Team
Nandana Pashchimi
Barhaj Deoria
U.P. 274601**

Edition Details - I st Edition

ISBN: 978-81-970776-8-5

ISBN: 978-8-19707-768-5



9 788197 077685

Copyright © Motilal Welfare Sewa Trust



भूमिका

इतिहास की कसौटी पर मानवता कभी खरी नहीं उतरी। इसी प्रकार मानवता की कसौटी पर इतिहास भी प्रायः हमेशा खोटा ही साबित हुआ। इतिहास मानवीय पीड़ाओं का मूर्तिमान स्वरूप है। इतिहास बीते जमाने की बात का नाम है जिसको अकृतज्ञ वर्तमान ने हमेशा ठुकराया है। जब कि तथ्य यह है कि इतिहास चिर युवा है, अनन्त और अक्षय यौवन सम्पन्न है, अप्रतिम अनाहत सौन्दर्य तथा ज्वलन्त सत्य है। इन्हीं सम्पदाओं को लेकर वर्तमान निलकता है, मचलता है, टुकता है और तरह तरह की हेंकड़ी दिखलाता है किन्तु अन्तोगत्वा उसी की गोद में सिर रख कर सदा के लिये सो जाता है और स्वयं भूत बन जाता है। इतिहास बन जाता है। यहाँ, जब तक वर्तमान जीवित रहता है अपने इसी ऐतिहासिक स्वरूप को कटु और तिक्त होकर ठुकराता रहता है। इससे बड़ी विडम्बना और क्या हो सकती है ? यही इतिहास का दर्द है जो इस पुस्तक के कतिपय पृष्ठों में समेटा हुआ है।

‘जो खल दण्ड करों नहि तोरा, भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा’। स्थापित मान्यताओं के विरुद्ध अर्थात् वेद; श्रुति विरुद्ध आचरण करने वालों को यदि दण्डित न किया जाए तो हमारा समाज हमारा देश, हमारा अस्तित्व मिट जायेगा। हम कहीं के नहीं रहेंगे। जब जब होइ धरम के हानीं, बाढ़हि असुर अधम अभिमानीं तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा, हरहि कृपा निधि सज्जन पीरा। इसी विश्वास पर हम आज जीवित हैं। भाषा बदल गयी, वेश बदल गया, परिवेश बदल गया, भाव विचार बदल गये और हम स्थायी शाश्वत मानव मूल्यों से कट गये। मानव की मानव से पहिचान गायब हो गयी, फिर भी हमें सन्तोष नहीं हुआ। हम इसी वर्तमान को जीने के लिये बाध्य हैं। तो क्या हमारा इतिहास भी मर गया ? यदि यह अभी भी जीवित है तो इसे मारने को हमारी कोशिश निरन्तर जारी है। क्या यह दर्दभरी कहानी नहीं है ? क्या हमने यह स्वीकार कर लिया है कि हमारा अतीत कभी महान नहीं रहा और हममें देश भक्ति की भावना कभी नहीं रही और हम स्वाभिमानरहित होकर हमेशा पद दलित और मान मर्दित नर नहीं, नरपशु निरा और मृतक समान हैं ? क्या यही हमारी प्रगति, हमारा विकास और नूतन युगबोध है ? इतिहास मौन है। वह मूल्य वेदना पी रहा है ? तो क्या वह गूँगा है ? नहीं, नहीं हम स्वयं मूक-बधिर हो चुके हैं।

यदि तथ्य यह नहीं होता तो निर्दोषों पर वार क्यों किया जाता ? गहडवाल नृपति जयचन्द राठौर को देशद्रोही क्यों मान लिया गया है ? जयचन्द ने मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज चौहान पर आक्रमण करने के लिये आमंत्रित किया। इसका प्रमाण क्या है ? यह सत्य है तत्कालीन राजपूत राजाओं में परस्पर वैमनस्य था। उनमें एकता नहीं थी। सब चक्रवर्ती सम्राट बनने के लिये आपस में युद्धरत थे। इसी का लाभ उठाकर मुहम्मद गोरी ने एक एक कर सभी राजपूत राजाओं को परास्त किया। पृथ्वीराज चौहान और जयचन्द राठौर में प्रतिद्वन्द्विता और शत्रुता थी। जयचन्द ने पृथ्वीराज के साथ मिलकर तराइन के दोनों युद्धों में मुहम्मद गोरी का मुकाबला नहीं किया। पृथ्वीराज हार गया और युद्ध क्षेत्र में मारा गया। इसके तत्काल बाद ही एक वर्ष उपरान्त मुहम्मद गोरी ने कन्नौज के राजा जयचन्द राठौर पर हमला किया। जयचन्द ने भी गोरी का वीरता से सामना किया। रणक्षेत्र में जयचन्द हाथी पर सवार था। एक तीर शत्रु का उसकी आँखों में लगा और वह रणभूमि में गिर पड़ा। उसकी मृत्यु हो गयी रणक्षेत्र में ही। गोरी ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। जयचन्द धार्मिक और विद्वान राजा था। उसकी नीति उदार थी। संस्कृत के महान कवि श्रीहर्ष उसकी राजसभा के सदस्य थे। जयचन्द को गद्दार कहना गलत है।



जयचन्द पृथ्वीराज का प्रतिद्वन्द्वी था। क्या इसीलिए उसे गद्दार मान लिया जाए ? तब तो भारतीय गणतंत्र की सभी राजनैतिक पार्टियाँ गद्दार हुईं, क्योंकि इसमें परस्पर प्रतिद्वन्द्विता है और ये कभी एक नहीं हो सकती। यह स्वतन्त्रता संविधान सम्मत है। क्या इसी को गद्दारी कहते हैं ?

राणा संग्राम सिंह ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने का आमन्त्रण दिया था। इब्राहिम लोदी मारा गया। बाबर ने दिल्ली पर कब्जा कर लिया। देश के भीतर हमलावर को घुसाना क्या गद्दारी नहीं है, वह भी गद्दारी ऐसी कि बाबर को लाम पर चढ़ाकर खुद किनारा कस लिया। क्या इसी का नाम राजनीति है — धोखा देना, झूठ बोलना लेकिन इतिहास संग्राम सिंह को वीर योद्धा मानता है। उन्हें सम्मानित करता है। राजा जयचन्द ने ऐसा कुछ भी नहीं किया किन्तु इतिहास ने उन्हें बदनाम किया। बेचारे की कुण्डली ही खराब थी वरना होम करते हाथ क्यों जलता ?

राजनीतिक खेल का उदाहरण एक और देखिये। बात राणा संग्राम सिंह की ही है। खनवा का युद्ध राणा संग्राम सिंह के लिये राष्ट्रीय युद्ध और बाबर के लिये धर्म युद्ध बन गया, जबकि इन दोनों वीरों को अपने अपने ऐलानिया कौम से कोई ताल्लुक नहीं था, दोनों चाहे जैसे भी हो, भारतवर्ष पर एकाधिकार चाहते थे। राणा संग्राम सिंह अखण्ड भारतीयता के स्वप्नदर्शी नहीं थे और बाबर इस्लाम का प्रचारक नहीं था। वह अपने स्वार्थी दृष्टिकोण से कभी शिया बनता था, कभी सुन्नी। राणा संग्राम सिंह भी समकालीन राजरुषों को आतंकित कर अपनी गोटी लाल करना चाहते थे। चाणक्य ने भी तो मगध का साम्राज्य जीतकर कश्मीर के राजा पर्वतक को चतुराई से मरवा डाला था, जिनकी सहायता से उसने मगध सम्राट घननन्द को परास्त किया था। तो क्या चाणक्य गद्दार नहीं हुवा। कल बल छल का ही दूसरा नाम गद्दारी है ? इतिहास में सच्ची बात भी झूठी साबित हो जाती है और झूठी बात सच्ची। क्या यह दुख का विषय नहीं है। कहाँ तक गिनाएँ इतिहास का दर्द। इतिहास सरापा दर्द है। दर्द की ही दास्तान है वह। इसके वसीयतनामों के कागजात यानी दस्तावेज को बड़े गौर से पढ़ना चाहिए जयचन्द को बदनाम करने के पूर्व।

मीर जाफर गद्दार था, शत प्रतिशत । मीर जाफर सिराजुद्दौला का सेनापति और सम्बन्धी था जो क्लाइव से युद्ध करने के लिये रणक्षेत्र में उतरा था, किन्तु वह पूरी सेना लेकर क्लाइव के पक्ष में हो गया और अपनी ही सेना का संहार करने लगा बंगाल की नवाबी के लालच में । इसगन्दे सौदे का बिचौलिया सेठअमीचन्द था जिसने क्लाइव की दलाली की पैसों के लोभ से । मीरजाफर को नवाबी का प्रलोभन देकर उसी ने उसे क्लाइव के पक्ष में मोड़ लिया था । मीरजाफर और सेठ अमीचन्द दोनों असली गद्दार थे । इन्हीं के चलते सिराजुद्दौला हार गया और प्लासी का युद्ध क्लाइव जीत गया । भारत में अंगरेजी राज्य कायम हो गया । क्लाइव ने मीरजाफर को गद्दारी के ईनाम में बंगाल की नवाबी दी और सेठ अमीचन्द को घूस की रकम के बदले अँगूठा दिखा दिया जिसके शोक में सेठ जी मर गये । अगर जयचन्द ने गद्दारी की होती तो मुहम्मद गोरी ने उसे अपना सिपहसालार बनाया होता, न कि उस पर आक्रमण किया होता और मार डाला होता। सिकन्दर ने हिन्दुकुश की पहाड़ियों के राजा शशि गुप्त को, तक्षशिला के राजा आम्भी को अपने जीते हुवे भारतीय प्रदेशों का राज्यपाल बनाया । गद्दारी का ईनाम दलाली की रकम है जो जरूर दे दी जाती है ।

इस सन्दर्भ में भामाशाह की याद हो आई है जिसने देश की स्वतन्त्रता के निमित्त अपना सारा खजाना राणा प्रताप के चरणों पर अर्पित कर दिया था । देश का धन, देश के काम आ गया । सेठ अमीचन्द का रूपया किस काम आया ? उसके इसी धन लोभ के कारण भारतवर्ष अंग्रेजों का गुलाम हो गया और भारत अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी प्रगति के नाम पर



अंग्रेजियत का गुलाम बना हुआ है । कौमी कशिश यही है कि हम इतिहास की नजर से अंग्रेजी और अंग्रेजियत में पटु तो हो सकते हैं किन्तु भूगोल की कट्टरता के कारण काले-गोरे नहीं हो सकते । क्या कोई कौआ कभी हंस बना है ? सेठ अमीचन्द की दलाली और बोफोर्स काण्ड की दलाली में क्या अन्तर है ? वोफोर्स काण्ड की दलाली के रूपयों को भामाशाह के रूपयों के बटखरों से तौलिये और बतलाइए कि किसका पलड़ा वजनी है । विदेशों से सम्पर्क का होना बुरा नहीं है । टीपू सुल्तान ने भी भारत से अंग्रेजों को हटाने के काम में नेपोलियन से मदद माँगी थी और नेताजी सुभाष चन्द्र का हिटलर ने भारत सम्राट के रूप में अभिषेक किया था । अंग्रेज इसको बुरा मान सकते थे किन्तु स्वदेशाभिमान की दृष्टि से पूरे देश को इस पर नाज है । इसी भाँति चित्तौड़ की महारानी कर्मावती के बारे में कहा जाता है कि गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह के चित्तौड़ पर हमले के वक्त महारानी ने हुमायूँ बादशाह को अपना राखीबन्द भाई बनाया था । सिवा 'रक्षा-बन्धन' नाटक को छोड़कर और कहीं भी यह बात नहीं लिखी गयी है । इतिहास में इसका कहीं भी जिक्र नहीं है । मगर हम हिन्दुस्तानी भाइयों को खयाली पोलाव बहुत जायकेदार लगता है । हुमायूँ बादशाह ने अपनी पैनी समझ-बूझ से और अपनी रक्षा की दृष्टि से यदि चित्तौड़ में ही बहादुर शाह को घेर लिया होता तो शेरशाह को अपनी ताकत बढ़ाने का मौका न मिला होता और बंगाल से लौटते समय बक्सर में शेरशाह द्वारा हुमायूँ घेर न लिया गया होता, जिसके फलस्वरूप अपना राजसिंहासन छोड़कर उसे हिन्दुस्तान से बाहर भागना पड़ा और जीवनभर जिल्लतें तथा तरह तरह की परेशानियाँ भोगनी पड़ी ।

इतिहास में मिलावट निषिद्ध है । इनमें गप्प हाँकने की कोई गुंजाइश नहीं होती । इतिहास में बेइमानी या मरौवत की कोई जगह नहीं है । तो क्यों अपने नजरिये से हम हमेशा तथ्यों पर पानी फेरते रहते हैं, तथ्यों को तोड़ते-मोड़ते रहते हैं, उन पर कलई चढ़ाते रहते हैं । झूठ का मुकदमा लड़ने के लिये दस्तावेज बदलते रहने की तरह । इसी तरह का माहौल हमारे देश में राम जन्मभूमि के मसले को लेकर बना हुआ है । न जाने किस गैरत कौमी की वजह छत्रपति महाराज शिवाजी और महाराणा प्रताप सिंह इतिहास के पृष्ठों से कटे कटे रहते हैं । अगर कोई महापुरुष अथवा इतिहास किसी लेखक से लिखवायेगा तो वह कितना गप्प होगा और कितना सत्य? यह सब चिन्ता का विषय नहीं है ? यही सब तो इतिहास का दर्द है । जितना अधिक शोध की गुंजाइश और जरूरत इतिहास में है उतना और किसी क्षेत्र में नहीं ।

महाराज विभीषण भी इसी दफा के मुलजिम हैं । कोई किसी को विभीषण कह दे तो वह नाराज हो जाता है । कोई अपनी सन्तान का नाम विभीषण नहीं रखता । विभीषण की गलती भी क्या थी ? उसने अपने बड़े भइया से नीति की बात ही तो निवेदन के रूप में की थी, जिसका ईनाम मिला विभीषण को राजदरबार में पाद प्रहार और देश निकाला । क्या विभीषण जी समुद्र में डूबकर मर जाते तो यह उनकी वफादारी होती ? मन्दोदरी ने भी रावण को समझाया था । क्या कुम्भकरण भाई ने रावण को उसकी गलती नहीं बताई थी ? रावण ने क्यों इनको सजा नहीं दी । सजायापता विभीषण अगर राम की शरण न जाते तो उनकी रक्षा कहाँ होती ? सच्ची और अच्छी बात कहने का यदि यही परिणाम हो तो जीने का उपाय करना क्या गद्दारी है ? लेकिन धन्य है यह संसार जो चलती को गाड़ी और ठाढ़े को बैठा कहता है । दुर्योधन की सभा में दुर्योधन के भाई विकर्ण और महात्मा विदुर जी ने स्पष्ट शब्दों में दुर्योधन की नीति का विरोध किया था और महारानी द्रौपदी को नंगा करने से रोका था । मगर मदान्ध दुर्योधन जड़ नहीं था कि उन्हें अपने राज्य से लात मार कर निकाल देता । इस संदर्भ में रावण और विभीषण के व्यवहार पर विचार करें और स्वयं निर्णय लें कि रावण से अलग होकर विभीषण ने क्या गलती की ? धन्य है प्रचारित तथ्य । धन्य है लोकमत । क्या यह इतना जड़ होता है ।



ऐसा ही प्रसंग एक और है राजनीति में धर्म का । धर्म जब रूढ़ि का रूप धरण कर लेता है तो वह बड़ा अनर्थकारी हो जाता है। वैदिक धर्म कालान्तर में रूढ़ि हो गया । धर्माचार्य पुरोहितों की शक्ति असीम हो गयी । उनके राजनीति में उतर जाने से ही समाज छिन्न भिन्न हो गया। जिसके मलबों के ढेर में से धर्मतत्व ढूँढ़े जाने लगे फिर भी महाजनो येन गतः सपन्था के ही विवर में धर्म को छिपने की जगह मिली। धर्मिक और राजनैतिक जगत में क्रान्ति होने लगी, जिसके फलस्वरूप बौद्ध धर्म का उदय हुवा और मगध साम्राज्य कायम हुआ जो आगे चलकर मौर्य साम्राज्य के रूप में बदल गया । किन्तु बौद्ध धर्म भी अपना वर्चस्व और अपनी ओजस्थिता खो चुका था। वह राजनीति में घुसपैठ करने लगा जिससे सेनापति पुष्यमित्र शुंग को देशद्रोह के अपराध में बौद्ध श्रमणों को दण्डित करना पड़ा क्योंकि पश्चिमोत्तर सीमा पर उमड़े हुवे यवनों को वे देश के भीतर टार्च दिखाने लगे थे। राजनीति में धर्म का ही सहारा लेकर तुर्कों ने भारत में जेहाद छेड़ दिया और हिन्दुओं को काफिर (विधर्मी) और बुतपरस्त (मूर्तिपूजक) कहकर उन्हें मारने लगे और मन्दिरों को तोड़कर मस्जिद बनाने लगे तथा मूर्तियों को पैरों से कुचलने लगे । राजनीति से यह धार्मिक उन्माद आज भी दूर नहीं हुआ। भारत में मुसलिम राज्य की यह गाथा आज भी किसी कोने में दुबकी पड़ी है, जो रह रहकर साम्प्रदायिक दंगे के रूप में उभर उठती है।

इस धर्मिक उन्मादरूपी आग को अंग्रेजों ने बड़े मनोयोग से हवा दी । इसी आग की आँच पर उन्होंने अपना तन्दूर सेंका और भारत में फूट के सिद्धान्त की फसलें काटी । यह जहर का पेड़ हमारे प्राणप्यारे भारतवर्ष को मटियामेट करता जा रहा है। जिस धर्म के पेड़ को स्वामी विवेकानन्द ने विदेशों में रोपा और बापू ने जिसके बल पर सम्पूर्ण भारत को जगाया और एक बनाया तथा जिसके नाम पर शहीद हो गये, आज भी हमारे देश की समस्या बना हुआ है।

मैंने अपनी कविता पुस्तक 'राशन की दूकान' में जो सन् 1947-48 में रची गयी थी एक स्थल पर लिखा है—

जहर का पेड़ उगा है भाई,
हमी गाय हैं, हमी कसाई,
हिन्दू, मुसलिम, सिक्ख इसाई,
हम जितने नालायक उतने ही वे भी हैवान ।
यह है राशन की दूकान ।

हम अपनी भौतिक आकाँक्षाओं की पूर्ति के हेतु धर्म की ढाल लेकर स्वार्थों के युद्ध में ताण्डव नृत्य करते फिरते हैं । मानवता की हत्या करते हैं और यह कहते हुवे जरा भी शर्म नहीं खाते कि हम धर्मिक हैं । इतिहास गवाह है कितना घायल है यह खुद बेचारा । साहस किसी में है जो इसके इस घाव को मरहम-पट्टी कर सके ? यह दर्द कितना गहरे है, क्या इसका अन्दाज कोई लगा सकता है ? हमारी धर्म निरपेक्षता की नीति कितनी साफ सुथरी है, कोई कहे तो ? हिन्दुओं के लिये अलग कानून, मुसलमानों के लिए अलग कानून, सिक्खों के लिये अलग कानून, हरिजनों के लिये अलग कानून क्या साबित करता है—धर्म निरपेक्षता या धर्म सापेक्षता। राजनीति धर्म पर सवार है या धर्म राजनीति पर । वकौल जनाब अकबर इलाहाबादी के —

शेखजी के दोनों बेटे बाहुनर पैदा हुवे,
एक है खुफिया पुलिस में एक फाँसी पर गये ।

इस दुहरी तिहरी जिन्दगी से निजात पाने का है कोई उपाय । इतिहास के के दर्द, कुछ बोलो तो ?



एक दो समस्या हो तो कुछ कहा भी जाए । आजकल की बात हो तो कुछ सोचा समझा भी जाए । यह बहुत पुराना रोग है, यह बहुत गहरे का दर्द है। और यही इतिहास का दर्द एक ऐतिहासिक दर्द है जिसमें कुछ पहलुओं पर दृष्टि निक्षेप हुआ है जो सन्नदय पाठकों के समक्ष विनीत भाव से प्रस्तुत किया जा रहा है। एक मुक्तक भी लगे हाथ सुन लें कि हमारा देश कितना हसीन, रस भरा है—

दर्द ही दर्द माशूक में,
हम जो कहते इसे मानिये,
जितनी तड़पन उठे दर्द में,
यार उतना हँसीं जानिये,

समस्या जटिल है। उलझनों के जाल में फँसी है। इससे निकल पाना मुश्किल है। पक्ष—विपक्ष, अनुकूल—प्रतिकूल परिस्थितियों का भी अपना अपना रंग है, अपना अपना दावा है। इस लघु पुस्तक में समस्यायें उभारी गयी हैं इसलिये कि सुधी पाठक स्वयं अपना विचार दें और इन सवालों पर स्वयं निरपेक्ष भाव से सोचे । यही इस पुस्तक का उद्देश्य है। यदि इस कार्य में मुझे किंचित भी सफलता मिले तो मैं यह अपना सौभाग्य मानूँगा । यदि कोई त्रुटि हो तो क्षमा किये जाने की करबद्ध प्रार्थना के साथ,

फरवरी 1987
बरहज, देवरिया

मोती बी ए





विषय सूची

- | क्रमांक | विवरण |
|---------|--|
| 1. | भारत की राजधनियों की कहानी |
| 2. | कुछ युगान्तरकारी लड़ाइयाँ |
| 3. | एक तवारीखी मैदाने जंग – खनवा |
| 4. | अपना पराया इतिहास की दृष्टि में |
| 5. | वजीर हो तो ऐसा पर मौत ऐसी न हो |
| 6. | गए—गुजरे तवारीखी जमाने |
| 7. | शहजादे जो इतिहास नहीं कहानी बन कर रह गये |
| 8. | फरीद एक आम आदमी जो आवाम बन गया |
| 9. | सम्राट हुमायूँ : शक्ति थी, व्यक्तित्व था लेकिन . . . |
| 10. | नूरजहाँ, जो शह देते देते खुद मात खा गयी |
| 11. | अशान्ति की आँधी : शान्ति का प्रदीप |
| 12. | गणतन्त्र भारत के कुछ बुनियादी सवाल |
| 13. | हिन्दू राज्य : एक विडम्बना |
| 14. | धर्मप्राण भारत |
| 15. | वेदभूमि भारत अखण्ड है ? |
| 16. | वर्ण व्यवस्था बनाम जाति |
| 17. | दक्षिण भारत |
| 18. | कस्मै देवाय हविषा विधेमः |
| 19. | भोजन, वस्त्र, आवास एक महाभारत |
| 20. | नूतन का राजतिलक |



भारत की राजधनियों की कहानी

सप्त सैन्धव प्रदेश अर्थात् (पंजाब और सिन्ध) सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर भारत वेदभूमि भारत है और यही आदि भारत है। ऋग्वेद इसी भूमि पर अवतरित हुआ। आर्य परिवार की समृद्धि एवं विकास के क्रम में आर्य सभ्यता का प्रसार पूर्वोत्तर होता गया। आर्य सभ्यता अपने मूल केन्द्र, सप्त सैन्धव प्रदेश से विकसित होकर सम्पूर्ण भारत में व्याप्त हो गयी और इसके अनेक शक्तिपीठ स्थापित होते गये जिसकी सीमा आदिशंकराचार्य ने चारों धाम की स्थापना के द्वारा निश्चित की, जो अखण्ड भारत कहलाता है। युगों से यही भारत प्रत्येक भारतवासी के मानस प्रदेश में पूज्य रहा है। इसी अखण्ड भारत की पूजा में मुक्ति या मोक्ष की कल्पना की गयी थी। दैनिक प्रार्थना स्तुति, मंत्र, संस्कार में इसी अखण्ड भारत के स्वरूप की एवं इसकी महिमा की आरती युग युग से उतारी जाती रही है और इसके संरक्षकों के गीत गाए जाते रहे हैं।

वेद भूमि भारत यानी सिन्ध और पंजाब और पश्चिमोत्तर प्रदेश अपनी सांस्कृतिक गरिमा के साथ-साथ पराक्रम और वीरता में भी अदम्य एवं अतुलनीय रहा है। महारानी कैकेयी इसी भूमि की देन थीं जिन्होंने युद्ध भूमि में महाराजा दशरथ के रथ की धुरी टूट जाने पर रथ के पहियों में स्वयं अपनी भुजा डाल दी थी और युद्ध में महाराज दशरथ को विजयश्री दिलायी थी। इसी वीर भूमि की कन्या महारानी द्रौपदी थी, जो पंचाली पंजाबिन नाम से विख्यात थी, जिसने महाभारत का युद्ध सफलता के साथ संचालित एवं प्रेरित किया था। महाराज ययाति और उनके पुत्र परु भी इसी धरती के रत्न थे। सिकन्दर से पौरव नरेश महाराज पोरस ने जिस पराक्रम और वीरता से युद्ध किया था, उसके आगे सिकन्दर भी नत हुआ था। सिकन्दर ने महाराज को अपना मित्र बना लिया था, जिनके कारण वह भारत से जीवित बचकर निकल सका था। कठों ने ही सिकन्दर को सबक सिखा दिया होता, अगर पोरस ने उसकी मदद न की होती। व्यास से आगे सिकन्दर की सेना के बढ़ने काहौसला टूटने का कारण भारतीय शौर्य एवं पराक्रम ही था।

सप्त सैन्धव प्रदेश की सीमा से संलग्न कुरु प्रदेश का राज्य था जिसकी राजधनी हस्तिनापुर थी। आज की दिल्ली महाभारत कालीन हस्तिनापुर या इसके आसपास की ही भूमि रही होगी। दिल्ली में कहने सुनने के लिए 'पाण्डवों का किला' भी है। यह कथा शत-प्रतिशत सत्य होने के बजाय एक संकेत का मूल्य रखता है कि दिल्ली पाण्डवों और कौरवों की ही भूमि या कुरु राज्य की ही धरती में बसी हुई है। मुमकिन है यही दिल्ली पाण्डवों की राजधनी इन्द्रप्रस्थ हो। हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ के साथ-साथ कुरु क्षेत्र भी, जहाँ महाभारत का युद्ध लड़ा गया था, पानीपत के मैदान के आसपास ही रहा होगा। इससे यह साबित होता है कि दिल्ली आज से ही नहीं प्राचीन काल से भारत की सेवा में रत और केन्द्रस्थ शक्ति-पीठ रही है।

दिल्ली के अतिरिक्त भी भारत की अनेक राजधनियाँ रहीं हैं, जैसे अयोध्या, पाटलिपुत्र, राजगृह, थानेश्वर, कन्नौज, उज्जैन, दौलताबाद कलकत्ता और विदिशा। इन सभी राजधनियों का अपना अपना छोटा-बड़ा रेकार्ड रहा है किन्तु सर्वश्रेष्ठ रेकार्ड महाराजा रामचन्द्र की राजधनी अयोध्या का है, जिसकी सांस्कृतिक और राजनैतिक उपलब्धि सर्वोपरि है। अयोध्या की राजनैतिक उपलब्धि है रामराज्य की स्थापना और इसकी सांस्कृतिक उपलब्धि है राक्षस संस्कृति का विनाश एवं आर्य संस्कृति की अखिल भारतीय प्रतिष्ठा। राक्षसराज महापण्डित रावण का वध मानव उत्पीड़न एवं अत्याचार तथा आतंक का अन्त है। दैहिक, दैविक, भौतिक सब प्रकार के दुखों को दूर करके प्रजा को सुखी, सम्पन्न, समृद्ध, स्वतंत्र और सन्तुलित तथा विवेकशील बनाने का कार्य राजा रामचन्द्र जी महाराज की राजधनी अयोध्या से हुआ, जो युग-पर्यन्त विकासमान



होता हुआ आज भी भारतीय मानसिकता में एक आदर्श के रूप में विद्यमान है। हस्तिनापुर राजधानी की कोई ऐसी महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं रही। इसलिए भारत की अनेक राजधानियों में अयोध्या की समता करने वाली कोई राजधानी नहीं हुई। राजगृह की राजधानी की एकमात्र उपलब्धि यही है कि उसने अपने आसपास के छोटे बड़े राजतंत्रों या गणतंत्रों को जीतकर एक बड़े राज्य के अन्तर्गत संगठित किया। राजगृह से ही पाटलिपुत्र भी विकसित होकर भारत की राजधानी बना। सदियों तक पाटलिपुत्र से अखिल भारतीय स्तर पर भारतवर्ष का राजनैतिक और सांस्कृतिक विकास होता रहा, जिसके अनुसार हमारा आज का भारतवर्ष पंचशील, अहिंसा, शान्ति और सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को लेकर विश्व शांति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है। यह पंचशील और अहिंसा एवं विश्व-बन्धुत्व का सन्देश पाटलिपुत्र राजधानी से सम्राट अशोक द्वारा तत्कालीन विश्व में प्रचारित और प्रसारित किया गया था। यह कोई कम महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है। अन्तर एक ही है कि यह सिद्धान्त उस समय भी प्रयोगाधीन रहकर स्वतः समाप्त हो गया और इस समय भी यह कसौटी पर चढ़ा हुआ है। इसके भाग्य का निर्णय होना अभी बाकी है। किन्तु मानव जीवन के जीवित रहने के निमित्त यह सम्बल किंचित भी कमजोर नहीं है। रामराज्य का आधार राम की शक्ति था, जो खल खण्ड करों नहीं तोरा-भ्रष्ट होय। श्रुति मारग मोरा, अथवा 'तुलसी मस्तक तब नवे, जब धनुष बाण हो हाथ या भुज उठाई प्रण कीन्ह' का सजीव मन्त्र रामराज्य की स्थापना का कष्ट और दृढ़ आधार था। यह सब कुछ मात्र प्रयोग नहीं था। यह चमत्कारिक रूप से क्रियान्वित शक्ति के रूप में कार्य करता था। यदि किसी ऐसी शक्ति का सहारा न होता तो रामराज्य कभी भी स्थापित न हो सका होता और रामचन्द्र जी महाराज को अयोध्या खाली हाथ लौट आना पड़ा होता। सीता अर्थात् भारतीय संस्कृति राक्षस संस्कृति में लुप्त हो गयी होती। यद्यपि आज हम भारतीयता एवं भारतीय संस्कृति का नाम बड़े गर्व से लेते हैं किन्तु अपने इर्द-गिर्द ढूँढ़ने पर भी वह दिखाई नहीं देती। नाम स्मरण का भी महत्व होता है और यह महात्म्य भी अयोध्या की ही देन है। भारत की वास्तविक राजधानी अयोध्या ही है किन्तु मिटकर भी न मिटने वाली ताकत हस्तिनापुर भी सदा सदा से कालचक्र और इतिहास को प्रभावित करती आई है। अयोध्या केवल स्मृति में सुरक्षित रह गयी, विगत भुला देने के लिए। लेकिन हस्तिनापुर दिल्ली के रूप में भारत में हमेशा सक्रिय रही है और आज भी दिल्ली की ही ताकत भारत की ताकत के रूप में दुनिया में छाई हुई है।

यह ताकत कितनी दिल्ली की है और कितनी भारत की समझने के लिए बहुत ही रोचक प्रसंग है। जब दिल्ली हस्तिनापुर के रूप में अपनी शक्ति का प्रयोग कर रही थी, उस समय अपनी ही ताकत अपनी ताकत से जूझ कर एक दूसरे को अस्तित्वविहीन करती रही। मैथिलीशरण गुप्त की कविता का एक छन्द इस संदर्भ में कितना सही-सही घटित होता है कि—

अधिकार खो कर बैठ रहना यह महा दुष्कर्म है,
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है,
इस तत्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ।

रामायण काल में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आदर्श था। महाभारत काल में भातृत्व की भावना का भी लोप हो गया। महाभारत काल में अपने ही लोग स्वयं अपनी संस्कृति के विनाश पर तुल गये थे। रामायण काल में विधर्मी तथा आतंकवादी भारतीय संस्कृति का विनाश कर डालना चाहते थे, किन्तु वे ऐसा कर न सके। अगर श्री कृष्ण का निरपेक्ष नेतृत्व न रहा होता तो भारतीयता का पूर्ण विनाश हो गया होता। महारानी द्रौपदी की पुकार भरी सभा में कोई सुनने वाला नहीं रह गया था। दिल्ली इतनी नंगी हो गयी थी। उत्तर वैदिक काल की समाप्ति अथवा



द्वापर का अन्त महाभारत के युद्ध से हुआ । हस्तिनापुर यानी दिल्ली ऐसा लगता है 'स्वपक्षे हानिकारकः' है। महाभारत के युगान्तकारी युद्ध के बाद दिल्ली सैकड़ों वर्ष तक इतिहास की सुर्खी पर नहीं उतरी । युग-जमाना इसके हाथ से निकल गया और नये सिरे से केन्द्रीय शक्तिपीठ के रूप में मगध का विकास होने लगा । मौर्य काल में फिर भारत की 'धम्म विजय' का डेरा विश्वभर में बज उठा । गुप्त काल भारत का स्वर्ण काल कहा जाने लगा । ये सारी उपलब्धियाँ पाटलिपुत्र मगध की हैं। समय के इस अन्तराल में दिल्ली की कोई पहचान नहीं रह गयी थी। सम्राट हर्षवर्द्धन के समय भी कन्नैज या थानेश्वर केन्द्रीय शक्ति के रूप में आलोकित रहा। हर्षवर्द्धन के पश्चात तो खण्ड राज्यों की एक बाढ़ सी आ गयी थी और भिन्न-भिन्न केन्द्रों की शक्तियाँ सैकड़ों वर्षों तक आपस में भी और विदेशियों से भी टकरा-टकरा कर टूटती-फूटती, बनती बिगड़ती रहती थीं। इन्हीं में दिल्ली भी थी, जिसके ऊपर खण्डाधिपति पृथ्वीराज चौहान का आधिपत्य था । खण्डाधिपतियों के खण्ड-राज्यों में यद्यपि दिल्ली भी एक चौहान वंशीय खण्ड राज्य की राजधानी थी किन्तु सन् 1194 के तराइन के मैदान में पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी के बीच होने वाले निर्णायक युद्ध ने दिल्ली को एक बार फिर भारत के केन्द्रीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जिसका वर्चस्व तब से लेकर अब तक दुनिया में कायम है। सन् 1194 से लेकर अब तक दिल्ली ने जो उतार चढ़ाव देखे हैं, वह रोंगटे खड़ा कर देने वाले हैं। दिल्ली के बारे में मैंने अभी अभी लिखा कि यह स्वपक्षे हानिकारकः है । तराइन के मैदान में भी दिल्ली ने अपने ही राजा को पराजित किया और आक्रमणकारी मुसलमान को सादर राजसिंहान पर बिठाया । सन् 1857 तक दिल्ली ने कभी भी भारतीय शक्ति को आगे बढ़ने को प्रोत्साहित नहीं किया । महाराणा प्रताप के टेक की मात्र रक्षा भर हुई किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता का उनका स्वप्न अधूरा ही रह गया । इधर सम्राट अकबर भी अलाउद्दीन खिलजी अथवा आलमगीर औरंगजेब जैसा जिद्दी और निर्दयी नहीं था । शिवाजी महाराज का उदाहरण एक अपवाद है । तुर्क, अफगान, मुगल, अंग्रेज ये सभी विदेशी थे और दिल्ली ने इनकी सेवा तन मन धन से की ।

भारत के मुसलिम तख्त में हिन्दू पाये लगे हुए थे जिसके कारण यह तख्त कभी डगमगाता या हिलता-डुलता नहीं था । लोहा ही लोहे को काटता है। यह तख्त अगर कभी कमजोर हुआ भी तो आपस की ही कमजोरियों से । दिल्ली मुसलिम तख्त पर बैठने वाले बहुत से सुल्तान या सम्राट हिन्दू माताओं के ही लाल थे, मगर ये मिश्रित खून वाले शासक विशुद्ध मुसलिम खून के शासकों के बनिस्बत ज्यादा असहिष्णु एवं हिन्दू विद्वेषी थे, जैसे फीरोजशाह तुगलक, सिकन्दर लोदी, शाहजहाँ वगैरह । मलिक काफूर खम्भात की खाड़ी का एक हिन्दू युवक था, जिसने अलाउद्दीन के भारत विजय के स्वप्न को साकार किया । राजा टोडरमल और मानसिंह तथा बीरबल ने सम्राट अकबर के शासन काल को स्थायी उपलब्धियों से गौरवान्वित किया । इसी सहयोग के अभाव में मुहम्मद तुगलक, इब्राहिम लोदी और औरंगजेब जैसे दबंग बादशाह मुँह के बल औंधे गिर गये । यह सारा करिश्मा दिल्ली केन्द्र से ही प्रसारित होकर इतिहास के पृष्ठों में सिकुड़ सिमट कर रह गया ।

धर्म के मामले में दिल्ली महाभारत काल से ही घपले में रही है। युधिष्ठिर जैसे धर्मज्ञ भी उलझन में पड़ गए और उन्होंने यहाँ तक कह डाला—'महाजनो ये न गतः सपन्था' । श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज ने कहा—'सर्वधर्म परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' । कर्म के सम्बन्ध में भी कुछ इसी प्रकार सीमा बाँधी गयी कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' । आँख बन्द कर अन्धी गली में कौन चलना चाहेगा कर्मयोग की साधना में । ऐसा ही हुआ भी मगर इसका नतीजा क्या निकला— जनमेजय के नाग यज्ञ । ये सब कारनामों दिल्ली से हुए । दिल्ली के कत्ल किए गए तख्तनशीन बादशाहों



की या बादशाहत के दावेदारों की यदि तालिका बनाई आए तो एक पोथा तैयार हो जायेगा । तख्त हासिल करने के लिए जैसी जैसी अधम दिल दहला देने वाली क्रूरतायें और नीचताएँ की गयीं, वैसी मिसाल अन्य किसी भी राजधानी में नहीं मिलेगी । अलाउद्दीन खिलजी ने अपने चाचा और ससुर सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी का कत्ल जिस नीचता से किया उसका दूसरा उदाहरण इतिहास अभी तक प्रस्तुत नहीं कर सका है । सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने अपने लायक और बहादुर भतीजे को, जो उसका दामाद भी था, जैसे ही गले लगाकर शाबासी देने के जजबात में उसकी पीठ थपथपायी, वैसे ही अलाउद्दीन के इशारे पर कातिलों ने सुल्तान की गरदन धड़ से अलग कर दी । सुल्तान का सिर भाले में लेकर पूरे कैम्प में घुमाया गया और यह ऐलान कर दिया गया कि अब अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली का सुल्तान है । देवगिरि से लूट कर लायी गयी सम्पत्ति रियाया पर और हर आमो खास पर दिल खोल कर लुटायी गयी और वातावरण सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी की जय जयकार के नारों से गूँज उठा । सन् 1296 में यह हुआ ।

इस घटना के तीस वर्ष बाद ही दिल्ली तख्त के इर्द-गिर्द एक दूसरी हृदय विदारक सनसनीखेज घटना हुई । सन् 1325 ई में जब शहजादा जूना खाँ ने अपने परम पूज्य पिता सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक का जोरदार अभिनन्दन नवनिर्मित लकड़ी के मकान में दिल्ली से कुछ किलोमीटर दूर किया था, एक भीषण षडयन्त्रकारी योजना के तहत, जिससे सुल्तान दिल्ली में जीवित प्रवेश न कर सके । रात में लकड़ी का मकान हाथियों के जुलूस के बहाने ढहवा दिया गया जिसके भारी भारी शहतीरों के नीचे दबकर सुल्तान अपने छोटे पुत्र के साथ मर गया । मलवे से लाश निकालने की कारवाई भी उचित विलम्ब से की गयी थी ताकि सुल्तान का दम पूरे तौर पर निकल जाए । जूना खाँ मुहम्मद तुगलक के नाम से तख्तनशीन हुआ । दिल्ली के तख्त पर बैठने वाले सुल्तानों और बादशाहों में मुहम्मद तुगलक का विद्वता के मामले में कोई सानी नहीं है । विद्वता के क्षेत्र में वह अपने ही जमाने में नहीं, पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती पीढ़ियों में भी तख्तनशीनों में सर्वश्रेष्ठ था । सामरिक क्षमता के साथ साथ प्रशासकीय एवं बौद्धिक क्षमता भी उसमें कूट कूट कर भरी हुई थी । ठोकर खाने एवं ठोकर मारने की क्रिया में भी उसके जैसा दूसरा सुल्तान नहीं हुआ । वह था तो सुन्नी पिता का पुत्र, किन्तु धर्म के मामले में वह निरपेक्ष था और शिया सम्प्रदाय की तरफ काफी झुका हुआ था । दिल्ली के आसपास शेखनिजामुद्दीन औलिया कयाम करते थे जो सूफी सन्त थे । सल्तनत की बकाया सम्पत्ति उनसे भी सुल्तान गयासुद्दीन तुगलक ने जबरदस्ती वसूल की थी और उनके सन्त होने का कोई लेहाज नहीं किया था । इससे सन्त सुल्तान से नाराज रहा करता था । किसी ऐसे ही कारण से जूना खाँ सुल्तान का ज्येष्ठ पुत्र निजामुद्दीन औलिया से मिला रहता था और दोनों ही सुल्तान के खिलाफ षडयन्त्रकारी योजना बनाते रहते थे । जूना खाँ शिया समाज में जाकर कुछ भजन-कीर्तन में भी रस लेता था जिसकी खबरें सुल्तान के पास बंगाल हमेशा जाती रहती थीं । सुल्तान ने एक खत जूना खाँ को लिखा कि सन्त का साथ छोड़ दो, वरना दिल्ली आने पर तुम दोनों को सख्त सजा दूँगा । यह पत्र जूना खाँ ने सन्त को दे दिया और सन्त ने पत्र बाँच कर भेदभरी मुद्रा में कहा अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए कि 'हिनूज दिल्ली दूरस्ति'— अभी दिल्ली बहुत दूर है । गयासुद्दीन तुगलक दिल्ली से कुछ ही दूर पर लकड़ी के मकान में अभिनन्दनोत्सव के वातावरण में षडयन्त्र का शिकार हो गया । दिल्ली दूर है —का मुहावरा इसी तिथि से सर्वविदित हुआ । हम लोग अपनी साधारण से साधारण बातचीत में इस मुहावरे का प्रयोग करते हैं । लगता है 'दिल्ली' शब्द की व्युत्पत्ति में भी दूरी का कोई अर्थ छिपा हुआ है, क्योंकि दिल्ली कभी भी किसी के प्रति समर्पिता नहीं रही और सब दिल्ली के हुस्नेशमा पर परवानों के मानिन्द जान देते रहे ।



मुहम्मद तुगलक ने अपने पचीस वर्षों के शासन काल में दिल्ली को कसाईखाना बना दिया था । बात बात में बगावती सरदारों की जिन्दा खाल खिंचवाना और उनकी खाल में भूसा भरकर सम्पूर्ण राज्य में घुमवाना, उनके माँस का पुलाव बनवाकर उनके सम्बन्धियों, रिश्तेदारों को खिलाना तुगलकी अन्दाजे हुकुमत थी । यह खास तरह की खसूसियत थी । उसके आत्म विरोधी करनामों से इतिहासकार ही नहीं खुद इतिहास भी काँपता था । उसने दिल्ली से हुकुमत चलाने की अपेक्षा दौलताबाद से राज्य संचालन अच्छा समझा और फरमान जारी कर दिया कि सभी आमो-खास दौलताबाद चलें । किसमें हिम्मत थी सुल्तान को समझाने की कि यह कार्य इस तरह नहीं, दूसरे तरह करें ताकि यह सुविचारित योजना कामयाब हो । मुहम्मद तुगलक ने संकेत मुद्रा चलायी, लेकिन इसके कार्यान्वित करने का तरीका ही ऐसा था कि उसकी यह योजना भी हास्यास्पद ढंग से विफल हो गयी । पागल जानवरों की तरह यह अपने साम्राज्य की वगावतों के दमन कार्य में जूझते-जूझते सिन्ध के रेगिस्तान में बुखार से मर गया । उसका साम्राज्य भी उस समय उसी के साथ अपना दम तोड़ रहा था ।

इसी भांति इब्राहिम लोदी के शासन काल में भी दिल्ली की हालत कसाईखाने से भी बदतर हो गई थी और सब सरदार यहाँ तक कि निकट के सम्बन्धी और रिश्तेदार तक बाबर से जा मिले थे । इसके परिणामस्वरूप सन् 1526 की लड़ाई हुई पानीपत के मैदान में । दिल्ली ने फन: 'स्वपक्षे हानिकारक:' की भूमिका निभायी । इब्राहिम लोदी के हाथ से शासन की बागडोर लेकर उसे बाबर के हाथ में दे दीं । ऐसा एक भी उदाहरण ढूढ़ने से नहीं मिलता जब कि दिल्ली ने अपने पक्ष में कोई हितकर कार्य किया हो । हितकर कार्य यदि हों भी तो अहितकर कार्यों के मलवे में से निकाल कर उसे देखने का अवसर किसके पास है ।

अभी तक तो हम दिल्ली की अन्दरूनी हालत का बयान दे रहे थे । अब जरा उसके ऊपर बाहर से होने वाले हमलों का और खूनी दौर का भी कुछ जिक्र लाजिमी है । तुर्कों के पीछे-पीछे मंगोल सरहदी दरवाजा तोड़ कर दिल्ली राजधनी के प्रवेश-द्वार पर दस्तक देने लगे थे । इल्तुतमिश के जमाने में चंगेज खाँ दस्तक देकर चला गया । वह दूसरे मूड में था, वरना वह तैमूर लंग, नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली की तरह दिल्ली को खून से नहलाने से बाज नहीं आता । सैकड़ों हमले मंगोलों के होते रहे । अक्सर उनकी मार काट दिल्ली की सड़कों पर भी होती रही । तख्त काँप-काँप कर रह जाता था । आदमीयत हरदम थरथराती रही, मगर वह खूनी दौर कभी समाप्त नहीं हुवा । यह भी साफ-साफ पता नहीं चल पाया अब तक कि दिल्ली में कितनी आदमीयत है और कितनी राजनीति । कितना शोषण और कितना षोषण । कितना धर्म है, कितना अधर्म अथवा कितनी धर्मनिरपेक्षता । यहाँ हमेशा एक न एक तरह का कलाइमेक्स तैयार होता रहा है ।

दिल्ली के इतिहास में शेरशाह और अकबर दो ऐसे महान शासक हुये जिनकी तारीफ जितनी की जाए थोड़ा है । जनता को सुखी बनाकर एवं राजकाज को सुव्यस्थित करने की अपने-अपने जमाने में जिन तख्तनशीनों ने सच्ची कोशिश की, वे थोड़े हैं, लेकिन सब हैं जैसे बलबन, फिरोजशाह तुगलक, शेरशाह और अकबर मुगल काल में भी दिल्ली ने एक बार शेरशाह को अवसर दिया था । हुमायूँ को भारत से निकाल बाहर करने का और दिल्ली के राजसिंहासन से सफलतापूर्वक जनहित में शासन करने का । किन्तु पाँच वर्ष के भीतर ही शेरशाह युद्ध के मैदान में आकस्मिक ढंग से घायल होकर मर गया और फन: दिल्ली की हालत लिजलिजी हो गयी । सन् 1556 में पानीपत के दूसरे युद्ध में दिल्ली ने आखें मूँदकर फैसला अकबर के पक्ष में और हिन्दू सरदार हेमू के विपक्ष में किया । इसके बाद एक लम्बे अर्से तक मुगल शासकों की पीढ़ी दिल्ली से हुकुमत करती रही । यद्यपि दिल्ली तख्त की हालत औरंगजेब के बाद से ही



बिगड़ती गयी, फिर भी दिल्ली की मलिका नूरजहाँ अपनी कीमती साड़ी में पेबन्द जोड़ती रही । यही हालत सन् 1857 तक रही । सन् 1857 तक दिल्ली मुस्लिम शक्ति के अधीन रह कर हिन्दुस्तान पर हुकूमत करती रही । तराइन के युद्ध ; 1194 ई के बाद से ही । एक तरह से सन् 1757 से ही जब कि पलासी के युद्ध में बंगाल बिहार का नवाब सिराजुद्दौला पराजित हो चुका था, अंग्रेज कलकत्ते से भारतीय राजनीति का संचालन करने लग गये थे । बीच के सौ वर्षों तक भारत की दो राजधानियाँ थीं 1 दिल्ली नाममात्र की 2 कलकत्ता वास्तविक । सन् 1857 की असफल राज्य क्रान्ति के बाद ; जिसमें अन्तिम मुगल सम्राट बहादुरशाह 'जाफर' भी शामिल था अंग्रेजों ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी से हुकूमत अपने हाथ में ले ली और राजधानी कलकत्ते से हटाकर दिल्ली बनायी तथा मुगल सम्राट बहादुरशाह 'जफर' को रंगून के कैदखाने में बन्द कर दिया । इस प्रकार दिल्ली ने फन: 'स्वपक्षे हानिकारक:' का फर्ज अदा किया । अंग्रेजों ने मुश्किल से दिल्ली से सौ वर्ष तक शासन किया भारत पर कि भारतवासियों ने सन् 1942 में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का नारा बुलन्द किया । यह नारा सम्पूर्ण विश्व में गूँज उठा । उधर स्वतन्त्रता सेनानी वीरवर नेताजी सुभाषचन्द्र बसु ने सिंगापुर से अपनी 'आजाद हिन्द फौज' को ललकार कर आदेश दिया 'दिल्ली चलो !' इन दो नारों ने जादू का असर पूरे देश में पैदा किया और भारतीय जनता ने पराधीनता की बेड़ियों को तोड़कर फेंक दिया और सन् 1947 में भारत में फन: अपना राज्य कायम हो गया । किन्तु यह रोमांचकारी घटना सरलता से नहीं हुई । भारत को रक्त सिन्धु में स्नान करना पड़ा । यद्यपि भारतीय जनक्रान्ति सत्य, अहिंसा और प्रेम के नाम पर हुई थी किन्तु इसको प्रमाणित करने के लिए उसे कीमती बलिदान करना पड़ा । वीरवर सुभाषचन्द्र बसु युद्ध क्षेत्र में वीरगति के अधिकारी हुवे । वे अमर शहीद होकर पूज्य हो गये । भारत दो टुकड़ों में बँट गया—1 पाकिस्तान पश्चिमी और पूर्वी 2 भारत । आबादी का अदला-बदला हुवा जिसमें अनगिनत व्यक्ति मारे गये । इधर भारत 15 अगस्त 1947 में स्वतन्त्र होने की खुशियाँ मना रहा था, उत्सव हो रहे थे और उधर पंजाब तथा नोआखाली में खून की होली खेली जा रही थी । दिल्ली का यह करिश्मा इतने से ही पूरा गया होता तो भी कुछ राहत थी मगर चार पाँच महीने बाद दिल्ली में ही बिड़ला मन्दिर में पूज्य चरण प्रातः स्मरणीय बापू को प्रार्थना सभा में गोली मार कर उनकी हत्या कर दी गयी । अहिंसा, सत्य और प्रेम का सिद्धान्त राजनीति की कसौटी पर खरा उतरा और बापू इस भयंकर युद्ध में विजयी हुवे । दिल्ली ने कैसे कैसे दिन दिखलाए । एक से एक वीर और सूरमा भीष्म पितामह, कर्ण, द्रोणाचार्य, दुर्योधन, जयद्रथ, अभिमन्यु जैसे वीर इसी दिल्ली की जमीन में लड़ाई के मैदान में स्वनिर्मित जीवन मूल्यों की रक्षा में युद्ध करते हुवे मारे गये । किन्तु क्या वे मूल्य कभी स्थिर किये जा सके । सतत संघर्ष, सतत संघर्ष, सतत संघर्ष । दिल्ली की यह विशेषता आदि काल से रही है ।

स्वतन्त्र भारतवर्ष की राजधनी के रूप में सदियों और युगों बाद दिल्ली पुनः प्रतिष्ठित और गौरवान्वित हुई । बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध की पीढ़ी इतिहास में अमर हो गयी और स्वतन्त्रता संग्राम के वीर सेनानी धन्य हो गए । जीवन और मृत्यु के बीच की दूरी स्वतः समाप्त हो गयी । इस युद्ध में जो जीवित बचे वे भी धन्य और जो काम आ गए वे भी धन्य, किन्तु एकता, अखण्डता, राष्ट्रीयता, शान्ति, सहअस्तित्व, अहिंसा सत्य और प्रेम का अपना जीवनाधार, इसे प्रमाणित कर दिखाने का सद् सकल्प आज भी कसौटी पर है । प्रधानमंत्री पण्डित जवाहर लाल ने अपने चमत्कारों और जाज्वल्यमान व्यक्तित्व एवं वर्चस्व से इस संकल्प की रक्षा में पूर्ण सफलता प्राप्त की । स्वार्थों के निम्नतम संघर्षों के बीच अपने प्यारे भारतवर्ष की छवि को उन्होंने धूमिल नहीं होने दिया । सम्पूर्ण विश्व पर भारतवर्ष का प्रभाव उनके सद्प्रयत्न से कायम रहा । चीन के साथ भारत का युद्ध एक ऐतिहासिक घटना उनके समय में हुई किन्तु इसका कोई



अनिष्टकारी एवं अमाँगलिक परिणाम नहीं होने पाया। यद्यपि नेहरू जी की आत्मा काँप उठी थी किन्तु उनके आत्मा बल ने उन का पूरा साथ दिया। भारतीय जनता ने उन्हें कमजोर नहीं होने दिया। देश विकास पथ पर अग्रसर होता गया। उनके बाद लाल बहादुर शास्त्री भारत के प्रधान मंत्री हुवे। भारतवर्ष की पुनः परीक्षा हुई। पाकिस्तान ने भारत पर आक्रमण कर दिया। भारतवर्ष की जागरूक जनता और वीर भारतीय सेना ने अप्रतिम साहस और वीरता से इस आक्रमण का सामना किया। एक बार पुनः तराइन का युद्ध याद हो आया। पाकिस्तान हारा बुरी तरह किन्तु ताशकन्द के समझौते ने भारत को परास्त किया। जिस चोट को लालबहादुर शास्त्री बरदाश्त नहीं कर सके और ताशकन्द में ही उनकी अज्ञात कारणों से वीर मौत हो गयी जिसका सदमा पूरे विश्व को हुवा। पुराने जमाने के लड़ाईयों की भाँति अगर यह लड़ाई भी हो गयी होती तो निश्चय था कि भारत पुनः अपनी सदियों पुरानी आर्यभूमि का स्वामी बन गया होता। लेकिन मानवता एवं विश्व बन्धुत्व के सिद्धान्त की रक्षा में यह दुहरी कुरबानी भारतवर्ष के ही नसीब में हैं। महात्मा गाँधी के बाद लालबहादुर शास्त्री का बलिदान ऐसा गहरा धक्का था जिसको सह पाना बहुत कठिन था किन्तु कराल काल जो न जहर पिलाए। लालबहादुर शास्त्री के बाद श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भारत का शासन सूत्र अपने हाथ में लिया। उनके शासन काल में भारत विश्व की तीसरा शक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। पूर्वी पाकिस्तान का नक्शा बदल कर बंगलादेश हो गया। पाकिस्तान ने दुबारा जोर आजमाइश की किन्तु उसको इन्दिरा जी के शासन काल में देश ने सबक सिखाया। वीरता और शक्ति की अवतार इन्दिरा जी हार गयीं गृह मोरचे पर अपने ही भाई-बन्धुवों से, जिनके कन्धे पर सहारे के लिए हाथ देकर चल रही थीं। उन्होंने ही धोखे से इन्दिरा जी की हत्या कर दी। अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के जमाने की दिल्ली एक बार फिर खिलखिलाकर शैतानियत के रंग में हँस उठी। ऐसी है दिल्ली आदिकाल से। यह लेख लिखते समय भारत के भाग्य विधाता प्रधानमंत्री राजीव गाँधी विश्व की अपनी साहसिक यात्रा से लौटे आए हैं सकुशल। उनकी इस यात्रा के तत्काल बाद ही हृदय को विदीर्ण का देने वाली जो एयर इण्डिया जम्बोजेट विमान दुर्घटना हुई है वह इस तथ्य का सचेतक है कि प्रधानमंत्री राजीव गांधी की हत्या के निमित्त इससे भी अधिक घातक और भयंकर योजना बनायी गयी थी किन्तु अमेरिका और कनाडा की सतर्कता के कारण यह शैतानी कुचक्र सफल नहीं हो सका। दिल्ली राजधनी का यह माहौल कोई नया नहीं है। महाभारत काल से ही यहाँ इसी प्रकार की घटनाओं का बोलबाला रहा है।

इस प्रसंग में एक बार पुनः भारत की अन्य राजधनियों की याद ताजा हो उठती है। आर्य भारत की आदर्श राजधनी अयोध्या रही है। रामायण काल में जब कि युद्ध, जो हुए निर्णायक हुवे और परिणाम जो निकले स्थायी रहे। अधम षडयंत्रों और स्वार्थ साधन के निमित्त नीचतापूर्ण प्रयत्नों की गणना नहीं के बराबर रही है, चाहे पाटलिपुत्र राजधनी रही हो या कन्नैज, विदिशा रही हो या उज्जैन। पाटलिपुत्र राजधानी से चन्द्रगुप्त मौर्य ने युनानी सम्राट सेल्यूकस को सिन्धु नदी के उस पार हरा कर हिन्दूकुश तक अपना राज्य विस्तार किया था और सेल्यूकस से मधुर सम्बन्ध कायम करने के लिए उसकी पुत्री को अपनी महारानी बनाना स्वीकार किया था। उसी चन्द्रगुप्त के नाती सम्राट अशोक ने कलिंग युद्ध की विभीषिका देखकर कभी युद्ध न करने का शपथ ले लिया था और विश्वभर को अहिंसा और विश्व-बन्धुत्व का पाठ पढ़ाया था। सम्राट समुद्रगुप्त और सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने पाटलिपुत्र राजधानी से ही भारतीय संस्कृति का सन्देश बाहरी दुनिया में पहुँचाया था और वृहतर भारतवर्ष की स्थापना की थी। बाहरी आक्रमणकारियों से भारत को मुक्त किया था और इसकी अखण्डता को बरकरार रखा था। कन्नैज, उज्जैन और विदिशा ने भी इसी पंथ का अनुशरण किया था किन्तु हस्तिनापुर इन्द्रप्रस्थ



इतिहास का दर्द



कहिये या दिल्ली आदि काल से लेकर अब तक रोंगटे खड़ा कर देने वाली भीषण घटनाओं की जननी रही है। यूं तो रोमांचकारी घटनायें इन राजधनियों में भी होती रही हैं किन्तु इनकी प्रासंगिकता समझ में आने लायक रही है, जो कुछ दिल्ली में होता आया है वह आसानी से समझने लायक नहीं रहा है। लगता है दिल्ली सम्राट महाराज युधिष्ठिर ने यही सब कुछ सोच समझ कर कहा था –

वेदादि भिन्न स्मृतियो पि भिन्न,
ना सौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नं
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः सः पन्था ।





कुछ युगान्तरकारी लड़ाइयाँ

लड़ाइयों के कारण महत्व के होते हैं । स्वतः लड़ाइयों का कोई महत्व नहीं होता क्योंकि लड़ाइयाँ जब पक्ष और विपक्ष में होती हैं तो एक की हार और दूसरे की जीत निश्चित है । इस जीत और हार का भी कोई विशेष महत्व नहीं होता क्योंकि दोनों पक्षों का अपना-अपना सत्य होता है और सत्य ही जीतता है तथा सत्य ही हारता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष पर असत्यारोपण करता है और उसे दोषी कहता है। मानवीय प्रवृत्तियों एवं मानवीय स्वार्थों में कारण सदैवद्ध प्रच्छन्न रहता है जो सम्यक सन्तुलन के अभाव में प्रकट हो कर लड़ाई कराने को बाध्य है। लड़ाई अपने आप में परिणाम या कार्य नहीं हैं। यह तो एक प्रक्रियामात्र है जिसके अन्त में ही परिणामस्वरूप वह उपलब्धि प्राप्त होती है जिसके लिए लड़ाई होती है। लड़ाई का जो भी स्वरूप हो, यह किसी न किसी रूप में प्रकृति में सदैव होती रही है, होती रहेगी । सभ्यता और संस्कृति की उपयोगिता इसी में है कि इसको सुव्यवस्थित किया जाए तथा दैहिक के बदले इसको वैचारिक रूप दिया जाए ताकि जीवन जीने योग्य रह सके ।

इस दृष्टि से आदिकाल से लेकर अब तक की कुछ लड़ाइयों का आइए विहंगावलोकन करें और यह समझने का प्रयास करें कि इनके चलते हमारी विचार शक्ति ने हमें कहाँ तक पहुँचाया है और हम सभ्यता के विकास क्रम में इस समय किस बुलन्दी पर कायम हैं ।

वैदिक काल समझबूझ की सामान्य पहुँच के परे का युग है। रामायण और महाभारत काल के बाद ही बौद्ध काल है जिसके दो ही तीन शताब्दि उपरान्त सिकन्दर और दारा के आक्रमण हुवे और विशाल मौर्य साम्राज्य की स्थापना हुई । अतएव इस प्रसंग का आरम्भ रामायण काल से ही समीचीन होगा। इस काल में राम-रावण युद्ध हुवा, जिसके उपरान्त रामराज्य की स्थापना हुई, जो आज भी भारतीय जनमानस में एक उच्चादर्श के रूप में स्थिर है। राम-रावण युद्ध विधेयात्मक है, सोद्देश्य है और मानवता के कल्याण की जबरदस्त भूमिका है । हाँ, बड़े दुख से इस बात को स्वीकार करना पड़ता है कि इस युद्ध में दूसरा पक्ष पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया । दुख इसलिए कि इस पक्ष के समर्थक आज भी हैं जिनकी दृष्टि में राम एक विध्वंसक तत्व थे, जिन्होंने स्वर्ण भूमि लंका पर आतंकवादी कारवाई की । यह विचार भी उचित ही हैं क्यों कि यदि ऐसा न हो तो जग जीवन नीरस हो जायगा और विकास कार्य एकदम ठप पड़ जायगा क्योंकि सामान्य मान्यता है कि संघर्षों से ही उत्कर्ष होता है ।

महाभारत काल युद्धों का ही फल है। इसमें सभी तरह के सिद्धान्त और विचार लड़े । सब तरह की टेकनीक या विद्या अपनायी गयी । युद्ध टालने की न होने देने की सच्ची कोशिश पूर्ण त्याग की कसौटी पर भी खरी नहीं उतरी । उस जमाने की देशी-विदेशी सभी ताकतें इस युद्ध में सम्मिलित हुई । एक ओर नैतिक बल दूसरी ओर स्वार्थ प्रबल । दोनों में जम कर युद्ध हुवा और कुछ ही दिनों में सारी विचारधाराओं एवं शक्तियों का विनाश पूर्ण रूप से हो गया । बच गयी केवल श्री मद्भगवत गीता और दो तीन मुख्य बातें, जैसे कर्मणेवाधिकारस्ते, यदा यदाहि धर्मस्य और यत्र योगेश्वरः कृष्ण । महाभारत के बाद कालचक्र युग एकदम पलटा खा गया। महाभारत के बाद जो राजे-महाराजे बचे वे दार्शनिक और ज्ञानी होने लगे। संसार की क्षणभंगुरता एवं विनश्वरता इनकी आत्मा का मंथन करने लगी और इसकी प्रतिक्रियास्वरूप परम अहिंसावादी एवं तर्कप्रधान युग का आरम्भ हो गया जिसके आदर्श ऐतिहासिक महापुरुष गौतम बुद्ध हुवे और अहिंसा तथा निर्वाण की शंखध्वनि से पूरा संसार गूँज उठा । महाभारत का युद्ध



इस दृष्टि से युद्धों का युद्ध तब तक कहा जाता है । महाभारतकालीन दार्शनिकता बुद्ध शरमं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धम्मं शरणं गच्छामि में परिवर्तित हो गयी ।

महाभारतोत्तर ऐतिहासिक बौद्ध काल में सम्पूर्ण भारतवर्ष सैकड़ों खण्ड राज्यों में बँट गया । ऐसे में एकता और अखण्डता केवल पोथियों की वस्तु हो गयी । ये सभी छोटे राज्य बड़ा बनने के लिए परस्पर युद्धरत रहा करते थे । ऐसे में सिकन्दर ने पश्चिमोत्तर भारत के खण्ड राज्यों को रौंद डाला । नागवंशी क्षत्रिय राजाओं ने उत्तर-पूर्व भारत के छोटे बड़े गणराज्यों एवं राजतन्त्रीय शक्तियों को उन्मूलित करके पाटलिपुत्र के केन्द्र से एकछत्र राज्य की स्थापना कर ली थी । चन्द्रगुप्त मौर्य ने नागवंशी अथवा नन्दवंशी की शक्ति को समाप्त करके सम्पूर्ण उत्तर भारत एवं दक्षिण भारत में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया । एकता और अखण्डता को मूर्त रूप दिया किन्तु आखिरी बात पर मुहर लगी फनः एक बड़ी लड़ाई में, जो सिकन्दर के उत्तराधिकारी सेल्यूकस और चन्द्रगुप्त मौर्य के बीच सिन्धु नदी के उस पार हुई, जिसमें सेल्यूकस की पूर्ण पराजय हुई और भारत का अखण्डस्वरूप देदीप्यमान हो उठा । इसी वंश में सम्राट अशोक हुवा जिसका धर्म विजय पूर्ण रूप से सफल हुआ । एक बार फिर भारत ने संसार की अगुवाई की । सेल्यूकस और सिकन्दर के बीच जो युद्ध हुवा, वह पहला ऐतिहासिक और निर्णायक युद्ध है, जिससे भारत की राजनैतिक और सांस्कृतिक अखण्डता कायम हुई जो आज भी अपने अस्तित्व रक्षा के लिए और विश्व शान्ति के लिए प्राण से सचेष्ट है । यह बात और है कि अपनी ही अन्तर विरोधी धराएँ मझधार में पड़ी एकता और अखण्डता की नौका को झकझोरती रहती है जिससे बाहरी शक्तियों से कम अपनी ही शक्तियों के चपेट में इसके डूबने का खतरा हमेशा रहा करता है ।

इसके बाद सेनापति पुष्यमित्र शुंग के शासन काल में यवनों का आतंक बढ़कर पाटलिपुत्र राजधनी के आसपास तक पहुँच गया था । यवनों को अपने ही लोग मदद भी दे रहे थे, मगर पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र और इनके पुत्र बसुमित्र यानी बाबा, बाप और नाती तीनों ने मिल कर यवनों का सामना किया और इनको सिन्धु नदी के उस पार तक भारतवर्ष के बाहर खदेड़ दिया, जिसके उपलक्ष में पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया था । यह युद्ध भी कम महत्व का नहीं था क्योंकि विदेशी ताकतों को भारत से बाहर हटाने का यह एक जबरदस्त निर्णायक सफल अभियान था । इसके बाद ऐसी कोई विकट स्थिति उत्पन्न नहीं हुई । यद्यपि भारत में खण्ड राज्यों का युग फनः आरम्भ हो गया था । आन्ध्र-सातवाहन वंशीय राजाओं ने शक क्षत्रपों को आगे बढ़ने से रोका था और भारत में उनको स्थायी रूप से इन्हें जमने नहीं दिया था ।

एक बार पुनः भारतवर्ष स्वर्ण युग से तब जनमगा उठा था जब पाटलिपुत्र केन्द्र से ही गुप्त वंशीय सम्राटों का तेजस जाग्रत हुवा और भारतवर्ष में ही नहीं प्रत्युत भारतवर्ष के बाहर के द्वीपों में भी भारतीयता प्रतिष्ठित हुई । इस प्रकार बृहत्तर भारत का निर्माण हुवा । सम्राट अशोक के समय भारत का नैतिक बल दुनिया पर गालिब हुवा था और अब गुप्त काल में वृहत्तर भारत भी स्थापित हो गया । भारतीय अखण्डता और एकता का अमरदीप एवरेस्ट की चोटी पर जलने लगा । यद्यपि विदेशी हूण जाति लगातार हमले पर हमला करती रही, जिनको बाहुबल से गुप्तकालीन सम्राटों ने धकेल कर देश से बाहर किया । सम्राट समुद्रगुप्त के ज्येष्ठ पुत्र राम गुप्त के शासन काल में घोर अपमानजनक स्थिति हूणों ने तब उत्पन्न कर दी थी जब पाटलिपुत्र के समीप तक वे पहुँच गए थे और सम्राट रामगुप्त से उनकी महारानी ध्रुवस्वामिनी को सन्धि प्रस्ताव में माँगने लगे थे, जिसके लिए कायर मतिमन्द सम्राट राम गुप्त तैयार भी हो गया था किन्तु स्वाभिमानी सुयोग्य मंत्रियों एवं सम्राट समुद्रगुप्त के छोटे पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वीरता से और कौशल से हूण सम्राट का सामना करके उसको मार गिराया और भारत के सम्मान की रक्षा की



। इसी प्रकार सम्राट कुमारगुप्त के दीर्घ शासन काल के उत्तरार्द्ध में हूणों का फन: जोरदार आक्रमण हुवा, जिसको उनके सुयोग्य पुत्र स्कन्द गुप्त ने असफल किया और हूणों को देश से बाहर खदेड़ कर ही दम लिया जिसका प्रमाण औड़िहार के पास सैदफर भीतरी का स्तम्भ लेख आज भी प्रस्तुत करता है । यह सामरिक कारवाई भी निर्णायक है और इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण है क्यों कि विदेशियों को भारत से निकाल बाहर करने के निमित्त यह पूर्ण सफल कार्य था । भारत में कुछ समय के लिए शान्ति अवश्य स्थापित हो गयी किन्तु यह सभी प्रयास केवल सम्राट और सेना की ओर से होते रहे थे । भारतीय जनता को इन सैनिक कारवाइयों से कुछ लेना देना नहीं था और न तो समसामयिक राजवंशी भी एकजुट होकर कभी इनका विरोध ही करते रहे । प्रत्युत ये राजवंश भीतर-भीतर बाहरी आक्रमणकारियों से मिले रहते थे और केन्द्रीय शक्ति के पराजय की प्रबल लालसा से पीड़ित रहा करते थे । यह है भारतीय एकता और अखण्डता का आन्तरिक स्वरूप ।

सम्राट हर्ष वर्द्धन के समय में ऐसी कोई उल्लेखनीय लड़ाई नहीं हुई । हाँ एक युद्ध दक्षिण भारत के राजा चालुक्य वंशीय पुलकेशिन द्वितीय से उत्तर भारत के सम्राट हर्षवर्द्ध का अवश्य हुवा था जो एक तरह निर्णायक युद्ध कहा जा सकता है । इस अर्थ में कि इस युद्ध ने यह फैसला कर दिया कि उत्तर भारत उत्तर भारत है और दक्षिण भारत दक्षिण भारत है । दोनों को एक दूसरे का सम्मान करना चाहिए । किसी को एक दूसरे पर अपना प्रभुत्व आरोपित नहीं करना चाहिए । इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हमें सम्राट अशोक के कलिंग युद्ध की स्मृति हो आती है, विजय तो अशोक को मिली किन्तु युद्ध में भीषण नरसंहार देख कर उसका मानव हृदय पिघल गया और उसने कभी युद्ध न करने की शपथ ग्रहण कर ली । तलवार पे विजय को उसने धर्म विजय में बदल दिया था । कलिंग का युद्ध अपनी तरह का अकेला युद्ध है और लगता है अकेला ही रह जाएगा । सम्राट समुद्रगुप्त ने दक्षिण भारत के सभी राज्यों को परास्त किया था किन्तु युद्ध में हाथ मिलाने के बाद उनको अपना सखा, मित्र एवं बन्धु बनाकर समुद्र गुप्त ने उन्हें अपनी छाती से लगा लिया और इस प्रकार एकता और अखण्डता का अभेद दुर्ग उन्होंने भारत में खड़ा किया जो आज भी भारत को अपने सुदृढ़ बाहुपाशों में बाँधे हुए हैं । हर्षवर्द्धन-पुलकेशिन युद्ध भी इसी महान युद्ध की संस्कृति का एक अंग है, जिसमें मानवता के ही माथे पर तिलक लगा, भाई चारे के ही भावना की विजय हुई ।

सम्राट हर्षवर्द्धन के पश्चात सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जबरदस्त मार-काट और लड़ाइयों का सिलसिला जारी हुवा । उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारतवर्ष लड़ाई का अखाड़ा बना रहा । अनगिनत छोटे छोटे राज्य एकछत्र राज्य की स्थापना का प्रयास करते रहे । इन छोटी-छोटी भुजावों को अपने आजानुबाहु होने का बड़ा अभिमान था । प्रतिहार, परमार, चन्देल, चालुक्य, गढ़वाल, चौहान, पाल, सेन, राष्ट्रकूट, चालुक्य, चेर, चोल, पाण्ड्य होयसाल, यादव आदि खण्डाधिपतियों में इर्षा, लाग-डाट वैमनस्य एक दूसरे में इतना व्याप्त था कि विदेशी हमलावरों की ओर किसी का ध्यान जाता ही नहीं था । बड़े आराम से अरब, तुर्क, मंगोल, मुगल, पठान, अफगान धड़ाधड़ इस देश की पवित्र धरती पर उतरते रहे, देवमूर्तियों को तोड़ते रहे, मन्दिरों को ध्वस्त करते रहे, हिन्दुओं को मुसलमान बनाते रहें , हिन्दू नारियों का अपमान करते रहे, धन-सम्पत्ति लूटते रहे, राज्य भी हड़पते रहे मगर भारतीय राजे और महाराजे एक छत्र राज्य की स्थापना के लिए आपस में लड़ते रहे । वे कभी नहीं सोचते रहे कि यह तीसरी विदेशी ताकत जो देश के भीतर पैठती जा रही है क्या गुल खिलाएगी । इसलिये सदियों पर सदियाँ गुजरती गयी, लड़ाइयाँ उपरान्त लड़ाइयाँ होती रही मगर निर्णायक युद्ध केवल सन् 1194 में हुवा मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान के बीच



तराइन के मैदान में जिसके फलस्वरूप दिल्ली पर मुहम्मद गोरी का अधिकार कायम हुआ, पृथ्वीराज चौहान मारा गया, मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद सन् 1206 में उसका सिपहसालार औरजीते हुवे भारतीय प्रदेशों का हाकिम कुतुबुद्दीन ऐबक भारत में मुसलिम राज्य का संस्थापक एवं पहला सुल्तान बना जिसकी परम्परा में देश दो टुकड़ों हिन्दुस्तान—पाकिस्तान में बंट गया। तराइन का युद्ध जबरदस्त युगान्तरकारी युद्ध हैं सन् 1192 में भी तराइन के मैदान में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज चौहान में जोर—आजमाइश हुई थी जिसमें मुहम्मद गोरी बहुत बुरी तरह हारा था जिसका बदला उसने दो वर्ष बाद इसी मुकाम पर लिया था। यदि पृथ्वीराज चौहान ने तराइन के प्रथम युद्ध को निर्णायक बना दिया होता तो शायद यह हालत नहीं हुई होती। मगर अन्दरूनी और आपसी लड़ाइयों का सिलसिला भी तब तक जारी रहता जब तक लड़ाकू बीर बाँकुड़े मुकुटधरी और तिलकधरी राजें महाराजे आपस में या विदेशियों से लड़ कर मर कट नहीं गए होते। इनके व्यक्तिगत शौर्य एवं पराक्रम के आँकड़े तो बहुत शानदार हैं। आग की लपटों में कूद कर जौहर व्रत के रोमांचकारी आख्यान की शाबासियाँ जबान बन्द कर देती हैं और आँखों को भिगो जाती है। मगर ये सब कहने की बातें हैं। देश तो गुलाम हो गया।

मुसलिम शासकों ने हिन्दुस्तान में अपनी हुकुमत कायम रखने के लिए लगातार जंग किए। ये कामयाब भी हुवे। आपस में हमेशा लड़ते भिड़ते रहने वाले भारतीय शासकों ने कभी भी एक होकर अपने सामान्य प्रतिपक्षी को लड़ाई के मैदान में ललकारा नहीं। इसलिए विदेशी हमलावर ताकतें यहाँ मैदाने जंग में हमेशा कामयाब रही। यह बात दूसरी है कि समय समय पर भारतीय ताकतों ने भी विदेशी हुक्मरानों को बड़े बड़े दाँव दिखाए और अन्तोगत्वा इनको झुकाने में कामयाब भी रहे चाहे वे राणाप्राताप रहें हो या शिवा जी, सतनामी रहे हों या सिक्ख जाट रहे हों या बुन्देले। लेकिन कितने दुख की बात है कि ये भारतीय ताकतें आपस में कभी मिल नहीं सकीं और इसीलिए मुसलमानों के बाद अंग्रेजों की पौ बारह हो गयी। नवाबों को मैसूर को मराठों को सिक्खों को गुरखों को, अफगानों को जब अंग्रेज बहादुर हराते रहे तो देशी ताकतें तमाशा देखती रही। यहाँ तक कि सन् 1857 का विद्रोह भी इसी तमाशा का एक नजारा बनकर रह गया। भारतीय जन बल का एक अत्यन्त साधरण सा फट रहा सन् 1942 का स्वतन्त्रता संग्राम जिसके आगे अंग्रेज बहादुर को सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा किन्तु आजाद होकर भी इसी एकता का रोना रह गया है।

युगान्तरकारी युद्ध में पानीपत के तीनों युद्धों की गणना विशेष रूप से की जाती है। सन् 1526 दिल्ली सुल्तान को हमलावर बाबर की एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी ने परास्त कर दिया। मेवाड़ के राजा संग्राम सिंह इस उमीद में थे कि बाबर लोदी को खत्म करके चल देगा तो हम आसानी से दिल्ली के तख्त पर बैठ जाएंगे। मगर बाबर को जमते देखकर हैरान होकर सन् 1527 में खनवा के मैदान में उन्होंने ललकारा। अपने साथ हसन खाँ मेवाती को और इब्राहिम लोदी के भाई सुल्तान महमूद लोदी को भी मिला लिया मगर भयंकर जोर आजमाइश के दौरान इनकी हार हो गयी और बाबर की ताकत और बढ़ गयी। पानीपत के युद्ध के परिणामों को खनवा के युद्ध ने मुहर लगायी। तुर्क सुल्तानों का युग बदल गया और मुगल बादशाहों का जमाना आ गया।

पानीपत का दूसरा युद्ध सन् 1556 में हुवा जबकि मुगल बादशाह हुमायूँ की लाहौर में मृत्यु हो चुकी थी, दिल्ली पर हेमू सरदार ने अधिकार कर लिया था और अकबर मात्र 15 वर्ष का बालक था। बैरम खाँ ने परिस्थिति को बिगड़ने से सम्हाल लिया। पानीपत के मैदान में हेमू सरदार मारा डाला गया। इस तरह इतिहास के रंगमंच पर मुगले आजम अकबर के अवतरण की जबरदस्त भूमिका पानीपत के दूसरे युद्ध ने अदा की। मुसलमान एक स्थाई शक्ति के रूप



में भारत के अंग बन कर रहने लगे । अगर अकबर यह युद्ध हार गया होता तो युगान्तर भी नहीं हुआ होता । पिछला ही रवैया चलता रहता । बादशाह अकबर के ऐतिहासिक मंच पर उतरने से पुराना जमाना खत्म हुवा और एक नये युग का आरम्भ हुआ । सदियों बाद भारत को एक हमदर्द, रहमदिल, नेक और गमख्वार रहनुमा अकबर बादशाह के रूप में प्राप्त हुवा । सन् 1556 का पानीपत का युद्ध एक महान युग परिवर्तनकारी घटना है ।

पानीपत का तीसरा युद्ध सन् 1761 में अफगानिस्तान के शासक अहमदशाह अब्दाली और मरहठा सरदार पेशवा बालाजी बाजीराव के बीच हुवा था । मुगल सम्राट शाह आलम मरहठों के हाथ की कठपुतली हो चुका था । उसके ऊपर अहमद शाह अब्दाली की भी नजर थी । सम्राट की अवस्था दयनीय थी । नितान्त दुर्बल और क्षीण तथा पंगु हो चुका था । सिक्खों की शक्ति भी बहुत बढ़ गयी थी । मरहठे भारत में फिर से हिन्दू साम्राज्य स्थापित करने के प्रयत्न में लगे थे । दक्षिण भारत और महाराष्ट्र के साथ-साथ मध्य प्रदेश, गुजरात और राजपूताने पर उनका प्रभुत्व कायम हो चुका था । बिहार, उड़ीसा और बंगाल तक उनके आक्रमण होने लगे थे । दिल्ली के आसपास तक उनका प्रभाव क्षेत्र हो गया । दिल्ली सम्राट उनकी कृपा का भिखारी था । ऐसे में यदि मरहठों ने पानीपत का युद्ध जीत लिया होता तो सम्पूर्ण भारत में हिन्दू राज्य की स्थापना का उनका स्वप्न पूरा हो गया होता । किन्तु पेशवा ने नीति से काम नहीं लिया । उसे अपनी शक्ति पर आवश्यकता से अधिक विश्वास हो चुका था । उसने भारतीयों की सहायता अथवा उनका सहयोग प्राप्त करने की कोई कोशिश नहीं की । उसकी सेना बहुत बड़ी थी । अपनी विजय का उसे पूरा विश्वास था । वह मदान्ध होकर पानीपत के मैदान में अहमदशाह अब्दाली की सेना से भिड़ गया और इस युद्ध में वह जीती बाज हार गया । उसकी सेना गाजर-मूली की भाँति काट डाली गयी । सेनापति के साथ-साथ पेशवा का पुत्र भी लड़ाई के मैदान में मार डाला गया । एक भी सैनिक ऐसा नहीं बचा जो आकर बालाजी बाजीराव पेशवा को इस दुखद काण्ड की सूचना देता । कहते हैं इस युद्ध के एक वर्ष बाद पेशवा को यह बात मालूम हुई । इस युद्ध का असर यह हुवा कि सभी मरहठे सरदार अपने अपने प्रान्त में स्वतन्त्र हो गये । पेशवा, भोंसले, गायकवाड़ होलकर, आदि मरहठा सरदारों ने केन्द्र से सम्बन्ध परित्याग कर स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिए, जिनको अंग्रेजों ने कुछ ही दशकों में एक-एक करके समाप्त कर दिया । सन् 1564 में इसी प्रकार विजय नगर और बहमनी वंश राज्य के उत्तराधिकारियों के बीच ताली कोट के मैदान में भीषण युद्ध हुवा था । विजय नगर राज्य के प्रधानमंत्री रामाराव ने इसी तरह की मदान्धता का शिकार होकर विघटित वहमनी शक्ति की उपेक्षा करते हुवे बिना सोच-समझे आक्रमण कर दिया था और पूर्ण रूप से पराजित ही नहीं हुवा था, विजय नगर राजधनी की विनाश लीला का प्रत्यक्षदर्शी भी हुवा । हिन्दू राज्य स्थापित करने की अभिलाषा पानीपत के तृतीय युद्ध में पूर्णरूप से समाप्त हो गयी ।

सन् 1761 में पानीपत का तृतीय युद्ध जैसे तैसे समाप्त हुवा कि 1764 में बक्सर का युद्ध हुवा । ईस्ट इण्डिया कम्पनी के इन्तजामकर्ता अंग्रेज बहादुर और बंगाल-बिहार के नवाब मीरकासिम, अवध के नवाब शुराजुउद्दौला तथा मुगल सम्राट शाह आलम के बीच, जिसमें अंग्रेजों की शानदार विजय हुई । सन् 1757 में ही लार्ड क्लाइव ने पलासी के युद्ध में बंगाल-बिहार के नवाब सिराजुद्दौला को हटाकर अपनी सत्ता इन दोनों प्रदेशों पर स्थापित कर ली थी । अब बक्सर के युद्ध के फलस्वरूप कलकत्ता से लेकर दिल्ली तक का विशाल प्रदेश अंग्रेजों के अधिकार में आ गया । इस युद्ध के पश्चात अंग्रेजों के लिए मरहठों या सिक्खों या गुरखों या अफगानों को परास्त करना बाँए हाथ का खेल हो गया । सन् 1856 तक सम्पूर्ण भारतवर्ष पर ब्रिटिश यूनियन जैक लहरा उठा । सन् 1857 में भारत ने एक बार उबाल तो खाया था मगर



फश्तैनी रोग तो जहाँ के तहाँ थे । विद्रोहियों में एकता नहीं थी और भारतीयों में गद्दारों की कमी नहीं थी । इसी एक बात का रोना यह देश आदि काल से रोता चला आ रहा है ।

बक्सर को भारत के नक्शे में जरा गौर से देखिए । यह सामरिक महत्व का स्थान आदि काल से रहा है । महाराज रावण ने अपनी सैनिक छावनी यहाँ भी कायम की थी किष्किन्धा और दण्डकारण्य के उपरान्त । ताड़का, सुबाहु और मारीच यहाँ के शासक और कमाण्डर थे, जिनको श्री रामचन्द्र ने मार भगाया था । इसी स्थान पर शेरशाह फरीद ने मुगल सम्राट बादशाह हुमायूँ को ऐसा गच्चा दिया था कि उनको बक्सर से लेकर दिल्ली तक केवल भागते रहना पड़ा । वह भी किसी कदर, लुक-छिप कर लाहौर और लाहौर से सिन्धु होते हुवे भारत से पलायित होने की कोशिश में इसी बक्सर के युद्ध ने हुमायूँ को देश से बाहर किया और फरीद यानी शेरशाह को दिल्ली के तख्त पर बैठाया तथा पुनः अफगान सत्ता को भारत में प्रतिस्थापित किया । बक्सर का युद्ध भी किसी माने में कम युगान्तरकारी नहीं है ।

स्वतन्त्र भारतवर्ष में इस प्रकार के किसी युद्ध की न तो आशंका है और न इस तरह की कोई परिस्थिति है । वैसे होने के लिए तो गणतन्त्रात्मक युद्ध भारत में एक बार चीन से और दो बार पाकिस्तान से हो चुका है । इनमें से किसी को भी युगान्तरकारी युद्ध की संज्ञा नहीं दी जा सकती है । चूँकि यहाँ जनता का राज्य है, अतः पहले की जैसी लड़ाईयों की यहाँ कोई सम्भावना नहीं है । राजावों, महाराजावों की जगह पर पूरे देश में विधायक और सांसद हैं । फौज की जगह पर बैलट-बाक्स है । जनता का बालिग मताधिकार है । बैलट-युद्ध के जरिए यहाँ युगान्तरकारी व्यवस्था स्थापित की जा सकती है, जैसे कि एक बार सन् 1977 में जनता पार्टी की हुकूमत कायम हुई थी किन्तु अस्वाभाविक जोड़-तोड़, ताल-मेल और गठबन्धन के होते रहते या बनते बिगड़ते रहने से इनके द्वारा किसी प्रकार के युग परिवर्तन का विचार मात्र कपोल कल्पना है । देश के भीतर अव्यवस्था, अपराध, अराजकता, अस्त-व्यस्तता पैदा की जा सकती है, किन्तु ये बड़ी आसानी से दबायी जा सकती है । कठिनाई यही है कि अव्यवस्था उत्पन्न करने वाले अपने ही लोग हैं और अपने लोगों के विरुद्ध व्यवहारतः कोई निर्णायक कदम नहीं उठाया जा सकता है जैसा कि अब्राहम लिंकन को उठाना पड़ा था, जो अमेरिकन डेमोक्रेसी की रक्षा के लिए अत्यावश्यक भी था यद्यपि इस प्रयत्न में अब्राहम लिंकन को अपने प्राणों की आहुति भी देनी पड़ी । इस प्रसंग में शक्ति की अवतार प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी की याद कैसे न आये, जिन्होंने भारत माँ की रक्षा में अपना बलिदान किया । किन्तु भारत किसी निर्णायक घड़ी की प्रतीक्षा में है कि आशंकाओं के बादल भारतीय आकाश से छिन्न भिन्न होकर इधर उधर अन्तरिक्ष में विलीन हो जाए और कृष्ण की बाँसुरी दिशाओं में चतुर्दिक गूँज उठे और गूँजती रहे ।



एक तवारीखी मैदानेजंग : खनवा

राष्ट्रीयता और धर्मिकता में ताल-मेल बैठाने की अहं समस्या से हमारा धर्म निरपेक्ष लोकतन्त्र आज पूरी तरह उलझा हुआ है। वास्तव में भारत अपनी ही ताकत से जूझने को मजबूर है। पुराना गल नहीं पाता और नया पच नहीं पाता। देश पुराना तोड़ नहीं पाता नया जोड़ नहीं पाता। अपने-अपने मतलब से विचारों के तोड़ने और मरोड़ने का सिलसिला खतम नहीं हो पाता। 'ग्रो मोर फूड' के अभियान में 'ग्रो मोर थाट' के झिरुवा-मोथा की सोहनी बहुत जरूरी हो गयी है, मगर जैसे-जैसे रोटी की समस्या सुलझती जा रही है विचार उलझते जा रहे हैं। इसी क्रम से राष्ट्रीयता और धर्मिकता के बीच भी ताल-मेल बिठाने की कोशिश सभ्यता के विकास में फिजूल साबित होती जा रही है। हम कभी राष्ट्रीयता को लेकर धर्मिकता से लड़ते हैं और कभी धर्मिकता को लेकर राष्ट्रीयता से। फल यह होता है कि दोनों ही विचार निरन्तर कमजोर होते जा रहे हैं और मानवता की जमीन दलदली भी होती जा रही है।

एक बहुत पुरानी तवारीखी वारदात इस नजरिये से गौर करने लायक है। तारीख है सन् 1527 और मुकाम है खनवा का रणक्षेत्र, जहाँ राणा साँगा और बाबर की फौज एक दूसरे से राष्ट्रीयता और धर्मिकता के नाम पर जूझने को तैयार थी।

पानीपत का युद्ध सन् 1526 में बाबर जीत चुका था। दिल्ली सुल्तान इब्राहिम लोदी मैदाने-जंग में काम आ चुका था। केन्द्र पर मुगल सरदार बाबर का कब्जा हो चुका था, मगर विभिन्न राज्यों के अधिपति आत्मरक्षा के लिए बाबर से लड़ने को और उसे देश से निकाल बाहर करने की आखिरी कोशिश में लगे हुवे थे। मृत इब्राहिम लोदी का भाई सुल्तान महमूद लोदी अपनी लुटी प्रभुता को दुश्मन से छीन लेने के लिए बेचैन था। उधर मेवात का शासक हसन खाँ मेवाती भी बाबर के साथ लड़ाई ठाने हुआ था। उसके पुत्र को बाबर ने कैद कर लिया था। इधर मेवाड़ के राणा साँगा भी बाबर की सफलता से चकित थे। एक तथ्य तो यह भी है कि बाबर को राणा साँगा ने ही आमंत्रित किया था और इब्राहिम लोदी के विरुद्ध पानीपत के मैदान में बाबर के पक्ष से लड़ने का बचन दिया था, मगर इस बचन का उन्होंने निर्वाह नहीं किया था और यह सोच करके दम साध गए थे कि बाबर भी चंगेज खाँ, तैमूरलंग और अन्य मंगोल सरदारों की भाँति लूटपाट और मारकाट करके अपने देश चला जाएगा। हमीं यहाँ के सर्वेसर्वा होंगे। किन्तु बाबर को दिल्ली के तख्त पर बादशाह बने बैठे देखकर उनका होश फाख्ता हो गया। अब उन्होंने बाबर के खिलाफ जंग की तैयारी में जबरदस्त गोल बनाना शुरू किया। भारत से विदेशी आक्रमणकारी को निकाल बाहर करने के लिए सुल्तान महमूद लोदी और हसन खाँ मेवाती को उन्होंने अपने पक्ष में मिला लिया। इस प्रकार भारत की हिन्दू मुसलिम ताकत तवारीख में पहली बार मिलकर एक विदेशी आक्रमणकारी को देश से निकाल बाहर करने को संघटित हो गयी। इतिहासकार इसे पहला राष्ट्रीय युद्ध मानते हैं।

इस तथाकथित राष्ट्रीय युद्ध की पृष्ठभूमि में हम हताश होकर राष्ट्रप्रेम या देशभक्ति की भावना ढूँढ़ रहे हैं। यह युद्ध विशुद्ध स्वार्थ का अखाड़ा था और आत्म रक्षार्थ ये बीर-बाँकुड़े राष्ट्रीयता को अपनी ढाल बनाए हुवे थे। यदि वास्तव में इनके नन्दय में देशभक्ति की भावना जोर मार रही थी तो राणा साँगा ने बाबर को आमंत्रित क्यों किया था और इब्राहिम खाँ लोदी के सगे सम्बन्धी आलम खाँ लोदी, दौलत खाँ लोदी, दिलावर खाँ लोदी इब्राहिम से आतंकित होकर बाबर से जा मिले थे ? दुश्मन को घर बुलाकर उसके हाथ में हथियार देकर अपने भाई पर वार करने को प्रेरित करने के वक्त उनकी देशभक्ति की भावना कहाँ थी ? जब इनके ही ऊपर



काली घटा फट पड़ने को हुई तो आत्म नाश के भय से त्रस्त ये देशभक्ति का राग अलापने लगे। क्या यही राष्ट्रप्रेम या देशभक्ति की परिभाषा है ? जो लोग खनवा के युद्ध को भारत का प्रथम राष्ट्रीय युद्ध कहते हैं, उनका तर्क बहुत ही दुर्बल तथ्य पर आधारित है और वह तथ्य है हिन्दू-मुसलमानों का पहली बार मिल कर किसी विदेशी का सामना करना। किन्तु यह भूल जाते हैं लोग, जिस स्वार्थ से प्रेरित होकर पानीपत का युद्ध लड़ा गया, ठीक उसी प्रकार की स्वार्थपूर्ण भावना से खनवा का युद्ध लड़ा गया। फर्क यही कि बीरों ने अपने चेहरों पर राष्ट्रीयता का मुखौटा चढ़ा लिया था। यह राजनीतिक युद्ध है न कि राष्ट्रीय युद्ध। खनवा के युद्ध को राष्ट्रीय युद्ध साबित करना बालू से तेल निकालना है।

इब्राहिम लोदी के शासन काल में राणा साँगा और इब्राहिम लोदी के बीच अनेक मोर्चों पर अनेक बार युद्ध हुआ था, जिनमें दोनों पक्षों की हार-जीत होती रही। किन्तु राणा साँगा की शक्ति घटी नहीं, यद्यपि उसे कोई कारगर कामयाबी भी हासिल नहीं हुई। इसलिए उसने इब्राहिम लोदी पर हमला करने के लिए बाबर को उकसाया था और अब जब बाबर ने इब्राहिम लोदी को जंग में मार डाला और दिल्ली के तख्त पर खुद जम कर बैठ गया तो राणा साँगा की देशभक्ति की भावना जाग्रत हो उठी और उन्होंने हसन खाँ मेवाती को लिखा कि मुगल भारत में घुस गए हैं। इब्राहिम को उन्होंने मार डाला है। देश पर कब्जा कर लिया है। स्पष्ट है कि हम लोगों पर भी वह हमला करेगा। आप साथ देंगे तो हमलोग जीवित रहेंगे और देश पर उसका अधिकार न होने देंगे। हसन खाँ और इब्राहिम लोदी के भाई सुल्तान महमूद लोदी ने मजबूरन राणा साँगा का साथ दिया और एक साथ मिलकर विदेशी आक्रमणकारी को देश से बाहर निकालने का प्रयत्न किया। इसीलिए इस युद्ध को राष्ट्रीय युद्ध कहा जाता है। सवाल यह है कि ईमानदारी के नाम पर यदि यह युद्ध राष्ट्रीय युद्ध कहा जाए तो चालबाजी का युद्ध किसे कहा जाएगा ? मुगल घुस गए हैं देश में या घुसाए गए हैं। जो खुद इब्राहिम के खून का प्यासा था, इसे बाबर द्वारा मार दिये जाने पर इब्राहिम की बड़ी याद आ रही है। यह सब क्या भेंडिये व कायर नहीं हैं।

बाबर ने इस गुट को तोड़ने का बहुत प्रयास किया। हसन खाँ मेवाती को अपने पक्ष में करने के लिए बाबर ने उसके पुत्र को कैदखाने से छोड़ भी दिया। मगर हसन खाँ पर इसका कोई असर नहीं हुआ और वह बाबर के खिलाफ जंग करने को कमर कस कर तैयार था। बाबर की फौज पूरी तरह संगठित नहीं हुई थी और मुकाबले में छोटी थी। राणा साँगा की फौज बहुत बड़ी थी और सैनिकों में जोश-खरोश भी था। बाबर की सेना पस्त हिम्मत हो गयी थी। पानीपत के युद्ध के बाद खनवा के युद्ध क्षेत्र में उतरने का सैनिकों को साहस नहीं हो रहा था। ऐसे में काबुल के एक ज्योतिषी ने भविष्यवाणी भी कर दी थी कि खनवा का युद्ध बाबर हार जाएगा। बाबर का जन्म ही मुसीबत झेलने के लिए हुआ था। इसलिए वह मुसीबतों में घबड़ाता नहीं था। मुसीबत ही उसकी जिन्दगी हो गयी थी। राणा साँगा की सेना ने पहले हमला किया। बियाना पर कब्जा कर लिया। बियाना पर बाबर का कब्जा था। यहाँ से सैनिक भाग कर बाबर के खेमे में पहुँचने लगे और यह सब देखकर बाबर के सैनिकों के पैर उखड़ने लगे। वे लड़ाई के लिए बिल्कुल तैयार न थे, मगर बाबर के सामने सिवा लड़ने के दूसरा कोई चारा नहीं था। ऐसे में उसका नेतृत्व चमक उठा और उसने अपने सैनिकों में नयी जान डाल दी।

राणा साँगा ने जब इस युद्ध को कौमी जंग ऐलान किया तो बाबर इसे जेहाद का यानी धार्मिक युद्ध का नारा दिया। खनवा के मैदान में दोनों ओर की सेनाओं ने अपने अपने चेहरों पर राष्ट्रीयता का और धर्मिकता का मुखौटा चढ़ा लिया। बाबर ने अपने सभी सैनिकों को एकत्र किया और उनके बीच एक ओजस्वी भाषण दिया। इसके पहले उसने प्रायश्चित के रूप में शराब



न पीने की प्रतिज्ञा की। शराब के सोने चाँदी के पात्र तोड़ डाले गए और उन्हें गरीबों में बाँट दिया गया। बाबर ने दाढ़ी न बनाने की भी प्रतिज्ञा की। अपने राज्य में अनेक करों को उसने उठा लिया। सरदारों और सैनिकों को एकत्रित कर उसने ओजस्वी भाषण दिया कि अमीरों और सैनिकों, जो संसार में आया है वह निश्चय ही एक न एक दिन मरेगा। हम सब मरेंगे। केवल ईश्वर अवशेष रहेगा। जो लोग जीवन रस पान करते हैं, उन्हें मौत का भी रसास्वादन करना पड़ता है। जो इस सराय रूपी संसार में आता है उसे इस दुखमय संसार से एक न एक दिन प्रस्थान करना पड़ता है। अपमान के साथ जीने से गौरव के साथ मर जाना कितना अच्छा है। मेरी यह ख्वाहिश है कि मेरी मौत बाइज्जत हो। गौरव मुझे प्राप्त हो। यह शरीर नश्वर है ही। खुदा का शुक्र है कि हमलोग इस युद्ध में पंचतत्व को प्राप्त करेंगे तो शहीद होंगे और यदि जीवित रहेंगे तो गाजी कहलाएँगे। आइए हम सब कुरान हाथ में लेकर शपथ खाएँ कि जब तक शरीर में प्राण रहेगा तब तक मैदाने जंग से मुँह नहीं मोड़ेंगे। बाबर के इस भाषण से जादू का असर हुवा। सबने कसम खायी और धर्म के नाम पर फौज मर मिटने को तैयार हो गई। इस प्रकार खनवा का युद्ध राष्ट्रीयता बनाम धर्मिकता का युद्ध हो गया। लड़ाई के बाजे बज उठे।

खनवा के युद्ध का वर्णन करना अथवा उसके परिणामों का उल्लेख करना हमारा प्रतिपाद्य नहीं है। बाबर की पूर्ण विजय, राणा साँगा की पूर्ण पराजय होनी ही थी, हुई। सुल्तान महमूद लोदी बिहार चला गया। हसन खाँ मेवाती मैदाने-जंग में मारा गया। महमूद लोदी ने बिहार जा कर पुनः अफगानों को संगठित करके बाबर से एक मोर्चा और लिया जो घघरा का युद्ध कहलाता है। बची खुची अफगान ताकत भी खत्म हो गयी। बिहार पर बाबर का कब्जा और बंगाल पर उसका प्रभुत्व इसी युद्ध में कायम हो गया। अगर खनवा का युद्ध राष्ट्रीय युद्ध रहा होता तो राष्ट्र की ये ताकतें अपने दीवार से निकल कर क्यों नहीं खनवा के मैदान में डट गयीं। चाहे धर्म के पक्ष में चाहे राष्ट्र के पक्ष में ? खनवा के युद्ध के बाद ही बाबर को चन्देरी में यहाँ के राजपूत राजा मेदिनी राय से, जो बहुत वीर थे, लड़ना पड़ा। मेदिनी राय राणा संग्राम सिंह के अधीनस्थ थे। चन्देरी पहले माण्डु के सुल्तान के कब्जे में था। राणा संग्राम ने सुल्तान से चन्देरी छीन कर मेदिनी राय को दे दिया था। मगर ताज्जुब है कि मेदिनी राय खनवा के युद्ध में जो राष्ट्रीय युद्ध कहलाता है, सम्मिलित नहीं हुवे, महज बाबर से मार खा कर मरने के लिए और वीर जौहर व्रत का उत्सव अलग से मनाने के लिए।

खनवा के युद्ध में एक ओर खड़ी थी राष्ट्रीयता दूसरी ओर सजी थी धार्मिकता परस्पर युद्ध करने के लिए। खनवा के युद्ध को धार्मिक युद्ध भी कैसे कहा जा सकता है, जब कि इस्लाम धर्म को मानने वाले मुसलमान दोनों तरफ समान रूप से बलवान थे। अगर यह युद्ध धार्मिक रहा होता तो निश्चय ही खनवा के युद्ध में एक भी मुसलमान राणा साँगा के साथ न रहा होता। मगर ऐसी बात नहीं थी। हसन खाँ मेवाती को अपने पक्ष में करने के लिए बाबर ने कितने चारे उसके सामने फेंके किन्तु हसन खाँ अपने विचार से टस से मस नहीं हुवा और मैदाने-जंग में लड़ते लड़ते मारा गया। खनवा का युद्ध न तो धार्मिक युद्ध था और न राष्ट्रीय। यह स्वार्थी का एक जकड़बन्ध था। अपने-अपने मतलब से ताल-मेल बिठाकर एक बखेड़ा खड़ा किया गया था। वास्तव में अगर राष्ट्रीय चेतना या भावना या कल्पना नाम मात्र को ही होती इनके विचारों में तो समरकन्द में हजार कोशिशों के बाबजूद न टिक पाने वाले बाबर की दाल भारत में नहीं गली होती। किन्तु भारतवर्ष की दुर्दशा कोई नयी बात नहीं है। महाभारत काल से ही इस देश में राष्ट्रीय लड़ाई कभी नहीं हुई। यहाँ सभी लड़ाइयाँ भाई-भाई में ही हुई, जिसका अनुचित-उचित लाभ हमेशा तीसरी किसी विदेशी ताकत को मिलती रही। घर के आँगन के बीच दीवार खड़ी करके इस पार से या उस पार से ढेला फेंकते रहने में ही हम अपनी शक्ति का



सदुपयोग करते रहे जिसका लुत्फ हमेशा पड़ोसी लूटते रहे और उचित समय जान कर प्रत्यक्ष होकर दोनों को कान से पकड़ कर एक किनारे करते हुए उनके घरों पर अपना ताला लटकाते रहे। हमारी सम्पूर्ण राष्ट्रीयता और परिपूर्ण धार्मिकता मात्र यही है— भाई का भाई से युद्ध, इन्सान का इन्सान पर हमला। इस बात को न तो कोई धर्म कबूल करता है न कोई राष्ट्रवादी विचार। यह महज नयी-नयी चौंकाने वाली बात कह कर, बात का बतंगड़ बनाकर मानवता को ढिंश-विमूढ़ करने में वर्चस्व की स्थापना का स्वांग है जो राजनैतिक हीनता तथा क्षीणता के साथ-साथ हमारे दिमागी दिवालियापन का सबूत है। यदि ऐसा न होता तो कोई सामान्य बौद्धिक जीव किसी विदेशी एजेन्सी से जुड़कर रातों-रात अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर और अपनी दैहिक दरिद्रता को सर्वदा के लिए दूर कर कंचन वर्ण विराज सुवेसा-स्वरूप हनुमत बल लगाकर अपने ही घर को लंका बनाकर क्यों फूकते ?

इस प्रकार खनवा के युद्ध में न तो राष्ट्रीय भावना कहीं थी और न धार्मिक। इन दोनों भावनावों का यह मात्र विडम्बित स्वरूप है। शोधसक्त विद्वान मस्तिष्क का यह कोई नयी बात गढ़ने के शौक का षडयन्त्र है। इतिहास सरकारी आँकड़ा नहीं है। इतिहास अपनी विधा और अपने कौशल से सत्य की मंजिल पर पहुँचाने का एक पन्थ है जिसकी महत्ता विज्ञान से कम नहीं है, क्यों कि विज्ञान भी अपना पूर्ण अनुभूत यांत्रिक सत्य लेकर इतिहास की गली में ही अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए भटकने को मजबूर है। आज हम अपनी विभिन्न विचारधाराओं को लेकर राष्ट्रीयता, अखण्डता, एकता, मानवता, शान्ति और सहअस्तित्व, सामाजिक विषमता, आर्थिक विषमता, शिक्षा, यांत्रिकता, व्यावसायिकता, प्राविधिकता आदि तरह-तरह की समस्याओं में उलझ कर पराजित होने को इसीलिए बाध्य हैं कि हम अपने देश और अपने स्वरूप के प्रति आज ही से नहीं पहले से कटे हुवे हैं। औपचारिकता और स्वाभाविकता में बहुत अन्तर है। इसी में हम कहीं खो गए हैं।



अपना-पराया इतिहास की दृष्टि में

इतिहास का अध्ययन या अध्यापन अध्येता का कालक्रम से संयुक्त होना है। जिस किसी भी युग का इतिहास हो, अध्येता का उस युग के साथ तादात्म्य हो जाता है। इस युग के घटना संवेगों के साथ उसे चलना पड़ता है। कोई घटना अकारण नहीं होती है, अतएव अध्येता को कार्य-कारण सम्बन्धों की गहराईयों में उतर कर सत्यासत्य के विवेचन में भी तल्लीन होकर स्थायी मानव मूल्यों को ढूँढ़ निकालना पड़ता है। ये ही मानव मूल्य जो सभ्यता और संस्कृति के मूलमन्त्र कहलाते हैं, इतिहास की उपलब्धि है। जिनके अनुसार प्रगति पंथ पर समय के साथ चलते रहने से परम्परा बनती है, जो प्रत्येक युग में किसी न किसी रूप में जीवन की गाड़ी को आगे खींचती रहती है। इस दृष्टि से इतिहास का अध्ययन या इतिहास का ज्ञान मानव जीवन के लिए अनिवार्य है। कोई इतिहास पढ़े, न पढ़े, इतिहास सबको पढ़ाता रहता है। यह बात और है कि अपनी विमूढ़ावस्था के कारण हमें इसका भान न हो।

आज एक ऐसा ही पढ़ा-पढ़ाया इतिहास का प्रसंग हठात् विचार का विषय बन गया है, जिसको स्याह करना दिली बेचैनी को दूर करने के लिये जरूरी हो गया है। बात है सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शमाने की।

अलाउद्दीन बहुत महत्वाकांक्षी सुल्तान था। था तो अनपढ़ मगर दिमाग का बहुत ऊँचा था। वह दोनों दुनिया पर हुकूमत करना चाहता था। धर्म के क्षेत्र में वह खुद को पैगम्बर समझता था और दुनिया फतह करने के मामले में अपने को सिकन्दर महान से बड़ा मानता था। मगर वफादार दरबारी काजी अली मुल्क की नेक सलाह मानकर उसने अपना इरादा बदल दिया और अपनी सारी ताकत पूरे हिन्दुस्तान को फतह करने में लगा दी। इसमें कोई शक नहीं कि उसके इस कार्य में जो सफलता मिली वह सिवाय अंग्रेज बहादुर को छोड़ कर और किसी सम्राट या सुल्तान को नसीब नहीं हुई। हम इस प्रसंग में सम्राट अशोक या सम्राट समुद्रगुप्त का नाम लेना नहीं चाहते क्योंकि उनके देश-विदेश व्यापी विजय अभियान और ढंग के थे। अलाउद्दीन खिलजी का विजय अभियान आँधी, बवण्डर, आग, पानी और बिजली का विजय अभियान था। सौहार्द एवं मानवता का कहीं भी नामोंनिशान तक नहीं था।

काजी की बात मान कर धर्मगुरु और सिकन्दर बनने की नीति छोड़ कर उसने भारतव्यापी साम्राज्य स्थापना की योजना बनाई और सम्पूर्ण उत्तरी और दक्षिणी भारत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ख्याल ऊँचा रखने से जो कुछ न कुछ होता है वह भी महान ही होता है। उसने धर्म को राजनीति से अलग कर दिया। धर्माधिकारियों या मुल्ला-मौलवी, उल्मा, काजी वगैरह के मामले में वह खुद पड़ता नहीं था, जब तक वे राजनीतिक मामलात में दखलन्दाजी नहीं करते थे। उसके जैसा अनपढ़ शासक भी यह खूब समझता था कि धर्म आत्मशान्ति के लिए है न कि राज्यक्रान्ति के लिए। धर्म निरपेक्षता का उसने यही अर्थ समझा था। वह किसी को भी अपने सिर पर नहीं चढ़ने देता था। गद्दारों की कौम को वह बहुत करीब से जानता था क्यों कि वह स्वयं परले सिरे का गद्दार था। हर आमो खास, सभी उसके हिमायती थे। चार जवाँमर्द सरदार उसकी खिदमत में हमेशा जान देने को तैयार थे। उनके नाम हैं—1—उलुग खाँ, 2—अलय खाँ, 3—नसरत खाँ, 4—जफर खाँ, किन्तु इन पर भी उसका नियन्त्रण जबरदस्त था। इनसे वह हमेशा सतर्क रहा करता था। इनके बाद मलिक काफूर था, जो हिन्दू से मुसलमान बना लिया गया था। वह सेनाध्यक्ष था। इन्हीं लोगों के बल पर भारतव्यापी साम्राज्य की स्थापना उसने की और मंगोलों से अपनी सल्तनत की रक्षा की। उत्तम कोटि की शासन व्यवस्था स्थापित की।



सफल बाजार—नियन्त्रण की नीति कार्यान्वित की। यह बात दूसरी है कि हिन्दुओं के प्रति उसने जरूरत से ज्यादा क्रूरता का व्यवहार किया। यह जमाना ही तारस्सुब का था। ये दिन हिन्दुओं की गिरावट के थे।

गद्दारी के इस जमाने में खुदारी और वफादारी की कल्पना व्यर्थ सी प्रतीत होती है मगर खुदाई रोशनी अगर न हो तो दुनिया में एक भी इन्सान नहीं रह जायगा। जो भी होंगे वे या तो शैतान होंगे या दरिन्दे और हैवान। कठोर स्वच्छन्द शासन और दम घोंटू घोर भीषण नियन्त्रण के मध्य भी मानव मूल्य जी रहे थे जिसके सहारे आज का यह युग भी मानवता की रक्षा के लिए काल से जूझ रहा है। उदाहरण के तौर पर हम अलाउद्दीन खिलजी के विजय अभियानों के दौरान हुई एक घटना का उल्लेख कर रहे हैं। अलाउद्दीन खिलजी ने रणथम्भोर के राजपूत राजा हम्मीर देव पर चढ़ाई की थी और किले को चारों तरफ से घेर रखा था। वैसे तो साम्राज्य विस्तार की नीति के समक्ष आक्रमण करने का कोई कारण नहीं होता। महज दिखाने के लिए कोई न कोई बहाना चाहिए। राजा हम्मीरदेव के राज्य में कुछ मंगोल, जिनकी अलाउद्दीन खिलजी के पहले उसके चाचा सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी ने अपने शासन काल में अपने राज्य में बसाया था। जो नये मुसलमान कहे जाते थे, जाकर आश्रय ग्रहण किए हुये थे। अलाउद्दीन खिलजी ने हम्मीर देव से इन नए मुसलमानों को उसके हवाले कर देने को कहा जो राजपूतों की प्रकृति के विरुद्ध कार्य था। राजपूत जिसको शरण देते थे, उसकी रक्षा वे जान देकर करते थे। हम्मीर देव के इन्कार करते ही अलाउद्दीन खिलजी ने उलुग खाँ और नसरत खाँ को बड़ी फौज के साथ रणथम्भोर विजय करने को भेजा मगर राजपूतों की मार के आगे इनकी एक न चली और इन्हें पीछे हटने को और झेन के किलों में छिपे रहने को मजबूर होना पड़ा। यह वाक्या सन् 1300 ई. का है। अलाउद्दीन को जब खबर मिली तो वह खुद फौज लेकर उलुग खाँ और नसरत खाँ की मदद को आ पहुँचा और रणथम्भोर पर दुबारा हमला बड़े जोर शोर से हुवा। इस हालत के दरम्यान दो तीन ऐसे संगीन वारदात हो गए कि अलाउद्दीन खिलजी या तो मार डाला गया होता या उसके हाथ से तख्त निकल गया होता। मगर वह भाग्य का बली था। इन दोनों खतरों से वह बच गया और रणथम्भोर के इर्द-गिर्द राजपूतों तथा मुसलमानों में भीषण युद्ध होने लगा। किले की दीवार के चारों ओर बालू भरे बोरे गिरवाये गये जिनके ऊपर से अलाउद्दीन की फौज किले पर चढ़ गयी और अब युद्ध किले के भीतर होने लगा। अलाउद्दीन खिलजी के अदम्य उत्साह और दृढ़ता के आगे राजपूतों का मनोबल गिरता गया। इधर किले के भीतर रसद भी चुकने लगी। घोर निराशा की घड़ी में राजा हम्मीरदेव ने अलाउद्दीन खिलजी से सन्धि कर लेने का निश्चय किया। राजा हम्मीरदेव के दो सेनापति रतिपाल और कृष्णपाल थे। इन्होंने गद्दारी की और ये अलाउद्दीन खिलजी से जा मिल गये, तब मजबूर हम्मीर देव ने अपने प्रधानमंत्री रणमल के द्वारा सुल्तान के पास सन्धि का प्रस्ताव भेजा। अलाउद्दीन खिलजी सन्धि नहीं चाहता था। वह रणथम्भोर पर अपना पूर्ण अधिपत्य चाहता था। सन्धि का प्रस्ताव ठुकरा कर उसने रणमल को भी अपने पक्ष में कर लिया और लड़ाई जारी रखी। ऐसी हालत में राजपूतों के सामने सिवा जौहर के और लड़ते लड़ते मरने के और कोई चारा नहीं था और अब यही हथ्र हुवा भी। बहादुर राजपूत मुसलमान सैनिकों से अन्तिम फैसले के लिए जूझ पड़े और राजपूत रमणियों ने आग की लपटों को गले लगा लिया। हम्मीर देव युद्ध करते करते मारे गए। हम्मीर काव्य के अनुसार हम्मीर देव ने मान-मर्यादा की रक्षा के लिए खड्ग से स्वयं अपनी हत्या कर ली। पता नहीं सेनापति रतिपाल और कृष्णपाल तथा प्रधानमंत्री रणमल को इस दुखद पराजय से कितनी खुशी हुई होगी। बहरहाल सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के लिए यह एक मामूली बात थी।



मगर अलाउद्दीन के साथ ही साथ सारी दुनिया राजा हम्मीर देव के अधीन में मंगोल सेनापति मीर मुहम्मद शाह की जवाँमर्दी और जंग करने का तरीका देखकर चकित रह गयी। उसको, उस एक अकेले को परास्त कर पाना अलाउद्दीन की फौज के लिए मुश्किल पड़ रहा था, जब कि मीर मुहम्मद शाह पूरा घायल हो चुका था और खून से लथपथ था, मगर उसकी ललकार दुश्मनों पर कहर बरपा कर रही थी। यह स्वामिभक्त सैनिक कप्तान अपने स्वामी के नाम पर और उसकी आन बान पर रणक्षेत्र में अकेले ही मौत से खेल रहा था। उसकी वफादारी और जवाँमर्दी देख कर अलाउद्दीन हैरान था। आखिर घायल अवस्था में ही वह पकड़ लिया गया और सुल्तान के सामने पेश किया गया। सुल्तान ने उसकी बड़ी तारीफ की और उससे पूछा कि अगर तुम्हारे घाव अच्छे कर दिए जाँय और तुम्हारी जान बच जाय तो तुम क्या करोगे? मंगोल सेनापति मीर मुहम्मद शाह ने जवाब दिया कि मेरे घाव अगर अच्छे हो जाएँगे तो आपको मार कर हम्मीर देव के पुत्रों को गद्दी पर बिठाऊँगा। सुल्तान को हिकारत की नजर से देखते हुए बड़े अभिमान से पराजित वीर सेनापति के मुँह से निकले ये शब्द सुन कर सभी दंग रह गये। सुल्तान पर खुद उसकी वीरता का बड़ा असर हुआ मगर उसने मीर मुहम्मद शाह को हाथी के पैरों से कुचलवा कर मार डाला। उसने मीर मुहम्मद शाह की जहाँ वह मारा गया था, वहाँ पर समाधि बनवाई। सुल्तान चूँकि गद्दारी और गद्दारों की दुनिया का आलिम फाजिल था इसलिए रणमल से काम निकाल लेने पर उसने उसको भी मरवा डाला। सुल्तान कैसा न्यायी था कि उसने दोनों को ईनाम दिया, खुदारी की भी और गद्दार की भी।

अपनों की गद्दारी और गैरों की खुदारी से हमें इतिहास कौन सा पाठ पढ़ाना चाहता है। खुद सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी अपने चारों ओर गद्दारों एवं षडयन्त्रकारियों तथा बगावतियों से घिरा हुआ था। जब तक उसके पास शारीरिक ताकत था सबकी खबर लेता रहा मगर जब सुल्तान बूढ़ा हुआ उसकी कार्यक्षमता धीरे-धीरे जवाब देने लगी तो उसका अपना ही बेटा खिज़्र खाँ उसका साला आदम खाँ उसकी पत्नी मलिका जहाँ और उसकी आँखों का तिल उसका कमाण्डर इन चीफ मलिक काफूर सभी बगावती हो गये। अलाउद्दीन नितान्त अकेला पड़ गया था। उसकी राजाज्ञा अब चलती नहीं थी। उसके जीते हुवे प्रदेश उसके हाथ से निकलते जा रहे थे। बूढ़ा शेर अपने पिजड़े में बन्द गुराँता था और उससे कोई भी डरता नहीं था। कहा जाता है कि खूद मलिक काफूर ने ही उसे जहर दे दिया। उसके बाद उसका विशाल साम्राज्य तहस नहस हो गया। शक्ति से कमाई गयी दौलत कमजोर हो जाने पर हाथ से निकल गयी। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी हाथ मलता रह गया और तड़प तड़प कर मर गया। दुनिया को समझने-समझाने के लिए भरपूर मसाला देकर इतिहास को।

भारतीय इतिहास के समानान्तर दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ ऐतिहासिक युग के आरम्भ से लेकर आज तक चलती चली आ रही हैं। जैसे खुदारी और गद्दारी, कायरता और वीरता, षडयन्त्र और बलिदान, विघटन और संगठन, व्यवस्था और विद्रोह, शान्ति और अराजकता आदि। युग युग से इन घातक प्रवृत्तियों के बीच से गुजरता हुआ घायल इतिहास जिस अवस्था में पहुँचा हुआ है, वह बहुत चिन्ताजनक एवं कारुणिक है। भारतीय जनता का मनोबल कभी टूटा नहीं। यही इस महान देश की रीढ़ की हड्डी है। यह राजनीति के शराब से नहीं, संस्कृति के दूध से बलवान है। इस रीढ़ की हड्डी में दधीचि की हड्डी का सार तत्व मिला है, जो वृत्तासुरों के बध का कारण है। यह बल भारत का कभी घटने का नहीं। यहीं विश्वास हमारे मनोबल की रक्षा करता है। किन्तु महान क्षोभ एवं दुर्भाग्य की बात है कि हम स्वयं शक्तिहीन तथा दीनमलीन खिन्न हो कर जीना चाहते हैं तो शौक से हम जिएँ, लेकिन लात खाते रहना और जीते रहना घोर दयनीय स्थिति है। हमारी यह स्थिति कोई आज की ही नहीं, युग-युग की है। हमारी



कमजोरी का कारण हमारे अपने ही लोग हैं। हम औरों से नहीं, खुद अपनों से कमजोर हैं। मंगोल सेनापति मीर मुहम्मद शाह की तारीफ उसके दुश्मन अलाउद्दीन ने भी की, मगर उसे जीवित नहीं रहने दिया। उसकी कब्र तो बनवायी, मगर उसे स्वजातीय होते हुवे भी हाथी के पैर से कुचलवा कर मार डाला क्योंकि वह खुद गद्दारेआजम था। इस प्रसंग में भारतीय इतिहास के महान देश द्रोहियों का हम नमन करते हैं। कितने दर्द के साथ किसी शायर का एक शेर याद हो आया है कि –

दीनों ईमान धर्म की पुकार यही है,
गद्दार को जीने का कुछ अधिकार नहीं है।

सिकन्दर महान की बाँह पकड़ कर उसे देश के भीतर पैठाने वाले हिन्दुकूश के राजा शशि गुप्त, तक्षशिला के राजा आम्बि, पुस्करावती के राजा संजय, काबुल के कोफाक्स अश्वजित क्या क्षमा करने योग्य है। पुरु ने सिकन्दर का जोरदार मुकाबला दिया था, मगर कठों ने जब सिकन्दर को आगे बढ़ने से रोक दिया और वह विशेष संकट की स्थिति में पड़ गया तो पुरु ने ही स्वयं सेना लेकर सिकन्दर की ओर से कठों से युद्ध किया और उनकी राजधनी सांकल के इर्द गिर्द रथों की व्यूह रचना का भेद न कर सिकन्दर को कठ राज्य पर कब्जा दिलाया।

सेनापति शुंग के बौद्ध श्रमणों के एक एक सिर काट कर लाने के लिए स्वर्ण मुद्रा परस्कार के रूप में प्रदान करने की घोषणा का कारण भी यही था कि स्याल कोट के आसपास बौद्ध श्रमण यवनों को भारत में प्रविष्ट कराने का फण्य फल प्राप्त कर रहे थे। सिन्ध के राजा दाहिर पर जब सन् 612 ई. में मुहम्मद बिन कासिम ने आक्रमण कर दिया, उस समय सिन्ध के रहने वाले जाट मेड़ और बौद्ध श्रमणों ने भी कासिम का साथ दिया। दाहिर क्या कोई भी कितनी ही वीरता क्यों न दिखलाए, एक बार पीठ पर दूसरा वार छाती पर और वार पर वार सिर पर झेलकर लड़ाई का मैदान छोड़कर या तो भाग सकता है या वीरगति प्राप्त कर नाम यश कमा सकता है। हमारे हत भाग्य इतिहास में इस तरह के नाम वालों की कोई कमी नहीं है। भारत में पूरे राजपूत काल के 600 वर्षों का इतिहास भारत की दुर्बलता, आपसी कलह और घृणित पराजयों का इतिहास है। संगठन कहीं दिखाई नहीं देता और विघटन की श्रृंखला कभी खत्म नहीं होती। अगर भारतीयों ने मुसलिम आक्रमणकारियों का साथ न दिया होता और जनता ने भी सहयोग किया होता तो भारत का इतिहास अन्य तरह का होता। ऐतिहासिक गद्दारियों का इतिहास और इन गद्दारियों के पीछे क्षुद्र स्वार्थों का विवेचन हमारी आँखें खोलने को काफी हैं। पलासी के युद्ध में सेठ अमीचन्द्र ने क्लाइव के साथ भारत का दिजी नोट किया और बिना युद्ध के ही क्लाइव के हाथ में हिन्दुस्तान का राज्य आ गया। क्लाइव खुद विस्मित था इसीलिए बक्सर का युद्ध जीत कर भी दिल्ली में उसने तख्त पर कब्जा न कर राजनैतिक सूझ बूझ का परिचय दिया। अमीचन्द्र के मुकाबले सेठ भामाशाह का भी नाम लिया जाता है। सेठ भामा शाह जैसे ही नामों पर भारत का अस्तित्व कायम है, वरना भारत को बेंच डालने की या इसे हिन्द महासागर में डुबा देने की कोशिशें जो बड़े पैमाने पर हो रही हैं उसको हम किस प्रकार की ताकत से रोक सकते हैं।

ये सारी घटनायें हमारे भारतीय इतिहास में कोई नयीं नहीं हैं। ऐसा यहाँ इतिहास के आदि काल से ही होता आया है। मीर मुहम्मद शाह का जिक्र इस सिलसिले में मात्र एक टोकेन, एक सिम्बल जैसा है, मगर विश्वास और मनोबल की प्रचुर राशि इसी टोकेन से भजा ली जा सकती है। इतिहास बेचारा क्या करे। वह तो महज रेकार्ड कीपर है। फिर इतिहास भी सही तरीके से तथ्यों को समझ नहीं पाता। इसमें भी मुँह देखी और चमचागिरी जब चलने लगे तो



इतिहास का दर्द



इस प्रस्तुत निबन्ध की उपयोगिता अपने आप जाहिर होने लगी है, बड़े दर्द के साथ इतिहास को एक शेर गुनगुनाते हुवे सुना कि –

पराये से बदतर जो होते न अपने,
तो हालत हमारी शिकस्ता न होती।





वजीर हो तो ऐसा मगर मौत ऐसी न हो !

चौदहवीं सदी के मध्यकाल में सुल्तान शिरोमणि मुहम्मद तुगलक दोपहर के सूर्य के समान तप रहा था और उसका विशाल साम्राज्य अराजकता की आग में जल रहा था। नये-नये प्रान्तीय, क्षेत्रीय तथा साम्प्रदायिक राज्य कायम हो रहे थे। केन्द्र से जुड़े राज्य भी षडयन्त्र एवं गद्दारी के कारण जर्जर हो चले थे। नितान्त अकेला बच रहा था मेधावी एवं प्रबल पराक्रमी सुल्तान, जो घायल शेर की भांति विद्रोहियों तथा अराजक तत्वों को नष्ट करने के लिए जूझ रहा था। इन्हीं दशावों में उसके शासन काल की गिरती एवं पतनोन्मुख अवस्था में दक्षिण भारत में दो परस्पर पड़ोसी साम्प्रदायिक राज्य कायम हुये—1. विजय नगर राज्य वंश एवं 2. बहमनी राज्य वंश। ये दोनों राज्य तकरीबन दो शताब्दियों तक हमेशा परस्पर लड़ते रहे, तब तक जब तक ये मिट नहीं गए पूरी तरह।

दक्षिण भारत के दौलताबाद के दुर्ग में घिरे अमीर सरदारों पर जो बगावती हो गए थे सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने कातिलाना हमला किया था और बहुतेरे सरदारों का कत्ल करा डाला था। इन्हीं सरदारों में एक इस्माइल खाँ था जो किसी कदर दौलताबाद के किले से भाग कर बच निकलने में कामयाब हो गया। उसी ने एक नये राजवंश की स्थापना की सन् 1346 में। सन् 1367 में इसने हसन जफर को अपना उत्तराधिकारी बनाया जो तवारीख में हसन गंगू के नाम से प्रसिद्ध है। उसी ने बहमन वंश नाम से इस नये राज्य का संगठन और विस्तार किया जो उत्तर में बानगंगा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी के बीच में फैला था। बहमनी वंश में एक से एक प्रतापी शक्तिशाली, जालिम और ऐयाश सुल्तान हुए जिनमें से इस वंश की उत्तरवर्ती अवस्था में एक निहायत क्रूर, जालिम और अत्याचारी सुल्तान हुवा था जिसका नाम था हुमायूँ। यह सुल्तान बड़ा विद्वान, प्रतिभा का धनी और कुशल वक्ता भी था किन्तु उसकी क्रूरता ने उसके सारे दैवी गुणों को ढक दिया था। उसने नाराज होकर अपने भाई हसन को शेर के सामने डलवा दिया था और शेर जब उसे चीर-फाड़ कर खा रहा था तो सुल्तान अपने दरबारियों के साथ ताली पीट पीट कर हँस रहा था। बहमनी वंश के सुल्तानों की राजधानी गुलवर्गा थी।

बहमनी राजवंश विनष्ट होने के कगार पर था जिसको उसके एक सुयोग्य मंत्री महमूद गवाँ ने नष्ट होने से बचा लिया। इसी लायक वजीर के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य एवं विचारोत्तेजक तथ्य प्रस्तुत करने के उद्देश्य से मैंने इन पुराने दिनों को याद किया है।

सन् 1461 में हुमायूँ सुल्तान की मृत्यु हो गयी। 8 वर्ष का बालक निजाम शाह के नाम से तख्त नशीन हुआ। उसकी माँ संरक्षिका बनी, मगर दो ही वर्ष बाद सन् 1464 में उसकी हत्या हो गयी और उसका चाचा मुहम्मदशाह तृतीय के नाम से तख्त पर बैठा। ख्वाजा जहाँ और महमूद गवाँ उसके दो वजीर थे। ख्वाजा जहाँ पर गबन साबित हो गया और उसकी हत्या कर दी गयी। ऐसी हालत में महमूद गवाँ सल्तनते बहमनी का आला वजीर बनाया गया और वह सल्तनत की हুকूमत के काम में बखूबी मशगूल हो गया। राज्य की पूरी ताकत महमूद गवाँ के हाथ में चली आई। वह बड़ा ही योग्य और कुशल शासक था। गवाँ ने युद्धों के जरिये बहमनी राज्य का विस्तार किया और ताकतवर पड़ोसी राज्यों को युद्ध में हराया। शासन के सभी भागों में सुधार किया। न्याय विभाग को नए ढंग से गठित किया। जमीन की पैमाइश करायी। लगान की दर निश्चित की, रिश्वतखोरी बन्द कर दी। सेना में सुधार किया। अफसरों को उनकी सेवा के बदले जागीर दी जाती रही। यह तरीका उसने खत्म करके उन्हें नगद वेतन दिये जाने की



व्यवस्था की। उखड़ी हुई बहमनी ताकत को उसने एक बार पुनः जमा दिया। पड़ोसी राज्य उससे डरने लगे और उसका अदब करने लगे।

वजीरे आला महमूद गवाँ का व्यक्तित्व बहुत ऊँचा और आदर्श था। वह सच्चा और निस्वार्थ सेवक था। वह हृदय से प्रजा की भलाई चाहता था और उसे सुखी बनाने का तथा उसके दुखों को दूर करने का हमेशा उपाय करता रहता था। वह नीच किस्म के हौसलों से दूर था। सिंहासन पर अधिकार करना चाहता तो यह काम उसके लिए बहुत आसान था, मगर वह सुल्तान मुहम्मदशाह तृतीय का फर्माबरदार और वफादार सेवक था। सेवावृत्ति को वह बहुत ऊँचा मानता था। शासन करने को वह सेवकाई समझता था। सन् 1470 में रुसी यात्री निकितन गुलबर्गा आया था। उसने भी अपनी यात्रा के विवरण में इस बात की चर्चा की है।

महमूद गवाँ पक्का राजभक्त था। वह त्यागी, नमाजी, अध्ययनशील एवं साहित्यसेवी था। उसका व्यक्तिगत जीवन सादा और पवित्र था। वह चटाई पर सोता एवं मिट्टी के पात्र में पानी पीता था। वह साहसी, दयालु, न्याय प्रिय तथा सभी किस्म के दुर्गुणों, छल कपट, फरेब वगैरह से परे था। दीन दुखियों, दरिद्रों पर वह खास तौर से रहम करता था। वह बुद्धिमान था। एक सभ्य व्यक्ति था, बहुत सुसंस्कृत। वह साहित्यकारों का आश्रय दाता था। वैद्यक में उसकी गहरी रुचि थी। उसने रौजात उल इन्द्रा और दीवाने अश्र नाम के दो ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वह शिक्षाप्रेमी था। उसने बीदर में अपनी निजी सम्पत्ति लगा कर एक महाविद्यालय भी स्थापित किया था। गरीब विद्यार्थियों के लिए उसने छात्रवृत्ति की व्यवस्था की थी। सम्पूर्ण राज्य में शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। दिन भर के राजकीय कार्यों से मुक्त होकर वह महाविद्यालय के विद्वान प्रोफेसरों के बीच बैठता था और उनकी संगति करता था। उसका अपना निजी पुस्तकालय था, जिसमें तीन हजार पुस्तकें थीं। उसने अपना पुस्तकालय विद्यालय को दान कर दिया था। उसके बनबाये और स्थापित किये हुए इस महाविद्यालय के भग्नावशेष अब भी मिलते हैं।

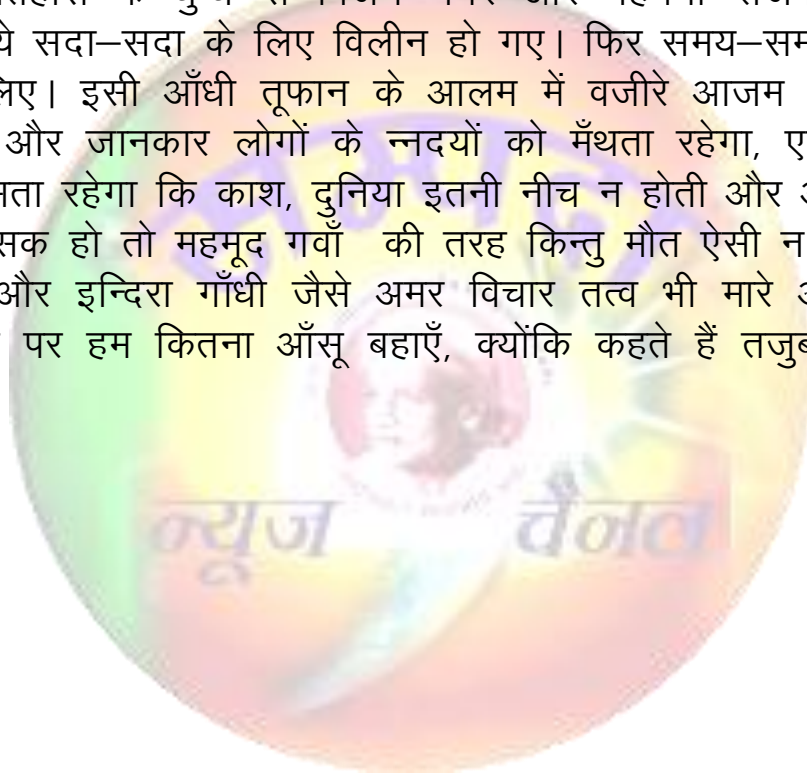
महमूद गवाँ फारस का निवासी था। व्यापार करने के लिए दक्षिण भारत आया था। सुल्तान हुमायूँ उसके गुणों पर रीझ गया था और शासकीय सेवा में वह नियुक्त कर लिया गया। उसे तीन पीढ़ियों की सेवा का अवसर मिला, हुमायूँ, निजामशाह और मुहम्मद शाह तृतीय। मुहम्मद शाह के शासन काल में वह महान प्रभुता एवं प्रभाव सम्पन्न प्रधान मंत्री था। पूरे बहमनी राज्य में उसी की चलती थी। दीर्घ काल तक उसने बहमनी राज्य की बहुमूल्य सेवा की और वह भी उस समय जब बहमनी राज्य लड़खड़ा गया था और विघटन के कगार पर था।

महमूद गवाँ के व्यक्तित्व एवं कार्य से असरदार और ताबदार दरबारियों, अमीरों और सरदारों को छोड़कर अन्य सभी बहुत खुश और सन्तुष्ट थे। महमूद गवाँ अमीरों के पचड़ों से बहुत बच कर रहता था। बहमनी राजदरबार में अमीरों के दो गुट थे— 1 देशी अमीरों का गुट 2 ईरानी अमीरों का गुट। देशी अमीर महमूद गवाँ के बढ़ते प्रभुत्व से हमेशा जलते रहते थे और उससे ईर्ष्या करते थे। देशी अमीरों ने उसके विरुद्ध षड़यन्त्र रचा। सुल्तान मुहम्मद शाह तृतीय के समक्ष इन्होंने एक जाली पत्र प्रस्तुत किया जिसमें उत्कल के राजा को मुहम्मद शाह तृतीय पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया गया था, जिसके नीचे महमूद गवाँ का हस्ताक्षर और शासन की मुहर थी। इससे राजद्रोह का अभियोग बनता था और महमूद गवाँ पर राजद्रोह का अभियोग लगाया गया। सुल्तान ने यह खत लेकर महमूद गवाँ को दे दिया और उससे उसकी सजा पूछी। महमूद गवाँ ने कहा कि इसकी सजा मौत है। इस पर सुल्तान ने कहा कि तुमने तो खुद ब खुद अपने को सजाए मौत दे डाली ! महमूद गवाँ ने कहा कि 'मैं मौत से नहीं डरता। यह खत मेरा लिखा हुआ नहीं है। मैं अब 74 वर्ष का हुवा। लेकिन निरपराध आदमी को दण्ड देने का अर्थ होगा कि सुल्तान एक चरित्रहीन व्यक्ति है और इसका परिणाम



यह होगा कि यह राज्य नष्ट हो जायगा।' यह कहकर कर उसने कलमा पढ़ा और दरबार में घुटने के बल बैठ गया । जल्लाद को इशारा हुवा और उसने महमूद गवाँ का काम तमाम किया । इस तरह इस साहसी, धैर्यवान, निरपराध और सुयोग्य महामंत्री की जीवन-लीला उसके कृतघ्न सुल्तान ने समाप्त कर डाली ।

महमूद गवाँ की हत्या के बाद सुल्तान भी बहुत पछताया । अफसोस के मारे उसने भी खुदकुशी कर ली। यह घटना सन् 1482 की है। जैसे तैसे बहमनी राज्य गिरता पड़ता तीस चालीस वर्ष और चला जिसके बीच अव्यवस्था बनी रही और प्रान्त स्वतन्त्र होते गए। सन् 1526 में पूरा बहमनी राज्य पाँच टुकड़ों में बँट गया। बीदर, बरार, अहमद नगर, बीजापुर और गोलकुण्डा। बीदर में बरीदशाही, बरार में इमदादशाही, अहमद नगर में निजामशाही, बीजापुर में आदिलशाही और गोलकुण्डा में कुतुबशाही। बहमनी राज्य का प्रताप समाप्त हो गया। सन् 1564 में ताली कोट का वह अन्तिम निर्णायक युद्ध हुवा जिसमें विजय नगर और बहमनी राज्य के पाँचो प्रान्तों ने मिलकर युद्ध किया, जिसमें विजय नगर राज्य का गौरव भी धूल में मिल गया। इस प्रकार जिस इतिहास के धुन्ध से विजय नगर और बहमनी राजवंश उत्पन्न हुवे उसी ऐतिहासिक धुन्ध में ये सदा-सदा के लिए विलीन हो गए। फिर समय-समय और दूसरे रूपों में अवतरित होने के लिए। इसी आँधी तूफान के आलम में वजीरे आजम महमूद गवाँ का नाम इतिहास के पाठकों और जानकार लोगों के नन्दयों को मँथता रहेगा, एक कसक कसमसाती रहेगी, एक काँटा चुभता रहेगा कि काश, दुनिया इतनी नीच न होती और आदमी इतना गन्दा न होता। वजीर या शासक हो तो महमूद गवाँ की तरह किन्तु मौत ऐसी न हो। यही दुनिया हैं। यहाँ महात्मा गाँधी और इन्दिरा गाँधी जैसे अमर विचार तत्व भी मारे और मिटाये जाते हैं। महमूद गवाँ के नाम पर हम कितना आँसू बहाएँ, क्योंकि कहते हैं तजुर्बाकार लोग कि रोना बेकार है।





गा-गुजरे तवारीखी जमाने एक बीती बात

विश्व इतिहास की झलक के अवलोकन से विदित होता है कि पण्डित जवाहर लाल नेहरू, कमालपाशा, चंगेज खां और चीन के सम्राट बांगची से बहुत प्रभावित थे। कमालपाशा ने तुर्किस्तान को उसको पुरानी तहजीब से हटाकर पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रँग डाला था। कुरान शरीफ की अरबी लिपि बदल कर उसे रोमन लिपि में लिखवाया। मौलवी और मुल्लावों की दाढ़ियों और मोँछे साफ करा दी तथा कोट पैण्ट—हैट बूट धरण करने के लिए उन्हें मजबूर किया। नेहरू जी भी धोती, कुर्ता, टीका चन्दन, आरती घण्टी पूजा पाठ, चरखा, तकली, गाय, गोबर जैसी 'वाहियात' चीजों से नफरत करते थे। चंगेज खाँ की आँधी—तूफान की गति होने वाले व्यापक सफल विजय अभियानों के समक्ष वे कुछ 'इनफीरियारिटी कॉम्प्लेक्स' में खुद को महसूस करते थे, इसलिए चंगेज उनको हीरो दिखता था। चीनी सम्राट बांगची ने पुराने साहित्य और साहित्यकारों को तलवार के घाट उतार दिया था क्यों कि वे लोग पुराने जमाने की तारीफ के ढोल पीटते थे और उसके जमाने के नहीं। नेहरू जी अल्ट्रा माडर्न थे। फरानेपन से, पोंगा पंथ से वे बहुत चिढ़ते थे। नेहरू जी को धर्मिक महाफरुषों में गौतम बुद्ध, धर्म में इस्लाम बहुत प्रिय था। चैतन्य महाप्रभु, गोस्वामी तुलसी दास और स्वामी विवेकानन्द उनकी दृष्टि में पुरानेपन से जुड़े होने के कारण आरक्षण के योग्य भी नहीं थे। जैसे अज्ञेय जी को मीरा बाई, सूरदास और कबीर प्रिय है किन्तु भक्ति कालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदास जी उन्हें प्रिय नहीं लगते हैं। नेहरू जी के प्रिय कवि कबीर ही था। मगर पुराने जमाने को यकायक और एकदम भुलाया भी तो नहीं जा सकता।

जो जितना ही महान होता है, उसका दृष्टिकोण भी उतना ही व्यापक होता है। पावर—पावर की बात है। पहुँच का खेल है। मैं जब तवारीख के पन्नों से उलझता हूँ तो एक से एक रोचक ऐतिहासिक पात्र सामने कतार बाँध कर खड़े हो जाते हैं कि हमकों लिखो, हमकों लिखो। कभी अलाउद्दीन खिलजी, कभी मुहम्मद तुगलक, कभी बाबर, कभी हुमायूँ, तो कभी शेरशाह। अकबर कतार में खड़ा होने के लिए पैदा ही नहीं हुवा था। ऐतिहासिक पात्रों की बिरादरी से उसे अलग भी नहीं किया जा सकता है। सबमें खूबियाँ हैं वरना एवरेस्ट की चोटी पर पहुँचने की तरह ये सूरमाँ कलम की नोक पर उतरते नहीं। एक खास तरह की दिक्कत इन सभी पात्रों में रही है जो गौर के काबिल है। जिसको अपना नजरिया बनाया जा सकता है। मैं, सुल्तान बलबन की खूबियों का गायक हूँ लेहाजा आज वही हमारे इस मसौदे या तजबीज की सुर्खी पर है।

मुहम्मद गोरी ने सन् 1192 में तराइन के जंग में पृथ्वीराज चौहान को परास्त कर के भारत में मुसलिम राज्य की स्थापना की नींव डाली और उसके मरने पर उसके द्वारा जीते गए भारतीय प्रदेशों पर उसके गुलाम सिपहसालार और उसके नायब कुतुबुद्दीन ऐबक ने सन् 1206 में अपनी हुकूमत कायम की। इस तरह गुलाम वंश का शासन भारत में शुरू हुवा जो सन् 1290 तक चला यानी कुल 84 वर्ष तक। जिसके अन्तर्गत कुतुबुद्दीन, इल्तुतमिश, रजिया बेगम, नासिरुद्दीन और बलबन जैसे सुयोग्य और शक्तिशाली सुल्तान तख्तनशीन हुवे, जिन्होंने भारत में मुसलिम राज्य को स्थायी बनाने का प्राणप्रण से प्रयत्न किया। कुतुबुद्दीन के बाद अगर इल्तुतमिश न हुवा होता और इल्तुतमिश के बाद अगर बलबन न रहा होता तो शक यवन और हूणों की भांति भारत से मुसलमान कभी विदा हो गए होते। इल्तुतमिश ने मुसलिम राज्य को सुदृढ़ जरूर किया था मगर उसके मरने पर जो अराजकता पैदा हुई उसी में नव स्थापित



मुसलिम राज्य समाप्त हो गया होता, अगर समय से ऐतिहासिक रंगमंच पर बलबन का प्रादुर्भाव न हुवा होता। इल्तुतमिश की संस्थापित व्यवस्था भी डोल गयी थी और सर्वत्र विद्रोह गद्दारी और अराजकता व्याप्त हो गयी थी जिसको दबाने की कोशिश में सुल्तान रजिया बेगम को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। रजिया बेगम इल्तुतमिश की कन्या थी। वह बहुत ही लायक, बुद्धिमान और उत्साह तथा साहस और शक्ति से भरपूर थी। इल्तुतमिश ने उसे ही अपना वारिस बनाया था, लेकिन सरदारों ने षडयन्त्र करके इसका कत्ल करा दिया। रजिया के बाद उसके दो भाई तख्तनशीन हुवे, बहरामशाह और मसऊद। ये भी कुछ ही दिनों में मार डाले गए। इसके बाद इल्तुतमिश का सबसे छोटा पुत्र नासिरुद्दीन तख्त पर बैठा, जो बीस वर्ष तक शान्तिपूर्वक चैन से हुकूमत के कागजात वगैरह देखा करता रहा, मगर इसकी सारी जहमत झेलता था, उसका प्रबल वजीर बलबन। हुकूमत की बागडोर अगर बलबन के हाथ में न होती तो नासिरुद्दीन को सुन्दर हरफों में कुरान-शरीफ की आयतों को अक्स करने का मौका न मिला होता। उसका भी कत्ल हो गया होता। ऐसी भीषण अराजकता की हालत में जिस व्यक्ति ने अस्तव्यस्त, उपद्रवी, विद्रोही, अराजक, जनता से और गद्दार मुसलिम सरदारों के खतरनाक तथा अन्य घाती कारनामों से मुसलिम सत्ता को नष्ट होने से बचाया, उसे अनुशासित किया, राज्य भक्ति की भावना भरी, उसी का नाम है बलबन। जिसको सुल्तान नासिरुद्दीन ने अपना दामाद ही नहीं अपने बाद अपना उत्तराधिकारी भी बनाया। सुल्तान होकर बलबन ने मुसलिम सत्ता को और भी सुदृढ़ अनुशासित तथा संगठित किया जो आगे चलकर पूफला और फला और जो आज भी महकता है।

तरक्की और बुलन्दी, सभ्यता और संस्कृति की ऊँची चोटी पर पहुँचे हुए मस्ती से आजादी के तराने में भटकते हुए आज के जमाने में, गए-गुजरे अपेक्षाकृत असभ्य, तानाशाही हथकण्डों के शिकार जमाने की तारीफ के पुल बाँधने की क्या जरूरत आ पड़ी कि कलम सुल्तान बलबन के गुन गाने चली है। कहाँ गणतन्त्र और कहाँ तानाशाही। कहाँ प्रजा के द्वारा चुने गये शासक और कहाँ तलवार के बल से खून से रंगे तख्त पर बैठा आततायी दीखने वाला शासक। कोई सिर फिरा ही ऐसा प्रलाप कर सकता है।

बेशक। वाजिब हैं यह तकदीर ! मगर मजबूरी भी कोई शै होती है। लड़ाई के मैदान में जिस दुश्मन के वार से लक्ष्मण सांघातिक रूप से बेहोश हैं, उसी दुश्मन के वैद्य से उपचार कराने की विवशता ने हनुमान को संजीवनी बूटी के साथ पहाड़ उखाड़ लाने का करिश्मा कर दिखाने को बाध्य किया रातो रात क्योंकि सुबह होते होते लक्ष्मण के प्राण पखेरू उड़ गये होते। पत्नी गँवाकर, भाई की बलि देकर, लड़ाई हार कर राम कहाँ जाते। मजबूरी है कि उन्हीं गये-गुजरे दिनों में हमें अपने जीवन-रक्षा का उपाय खोजना पड़ रहा है। इतिहास पाचवाँ वेद है। इतिहास से सबक लेना यही कहलाता है। कुछ सीखने से इतनी ज्यादा एलर्जी क्यों ? न्याय क्या कहलाता है, शान्ति स्थापना क्या होती है अगर उसी जमाने से हम जान लें तो क्या यह बुरा है ? मौजूदा जमाना अपनी लियाकत और ताकत भर सबक सिखा ही रहा है।

बलबन इलबरी कबीले का तुर्क था। बचपन में ही मंगोलों ने इसका अपहरण कर लिया था और बगदाद में ख्वाजा जमालुद्दीन के हाथ उसे बेंच दिया था। जमालुद्दीन ने उसे दिल्ली में सन् 1232 में इल्तुतमिश को बेंच दिया। बलबन अब दिल्ली सुल्तान इल्तुतमिश का गुलाम हो गया। उसे भिश्ती का काम दिया गया। रजिया बेगम के शासन काल में वह अमीर ए-शिकार बनाया गया। रजिया बेगम के शासन काल के बाद बहराम और मसऊद शाह की हुकूमत के जमाने में वह और भी ऊँचे ओहदे पर तैनात किया गया। रेवारी और हाँसी की जागीरें भी उसे दी गयीं। नासिरुद्दीन के शासन काल में यह वजीर की हैसियत पर पहुँच गया। सुल्तान



नासिरुद्दीन शाह ने इसे अपना दामाद बना लिया। नासिरुद्दीन के शासन काल तक यानी बीस वर्षों तक वह बहैशियत वजीर मुसलिम सल्तनत की बहुमूल्य सेवा लगन और ईमानदारी से करता रहा। सुल्तान नासिरुद्दीन शाह ने उसे अपने बाद अपना उत्तराधिकारी बना दिया। इल्तुतमिश का गुलाम उसी के खानादान का रिश्तेदार दामाद बना और सुल्तान भी बना। इतिहासकार लेनपूल ने लिखा है कि बलबन गुलाम, भिश्ती, अमीर ए-शिकारी, सेना नायक, राजनीतिज्ञ जागीरदार, वजीर और सुल्तान सिलसिलेवार बनता गया। दिल्ली के सुल्तानों में उसका व्यक्तित्व और कृतित्व सब सुल्तानों से अधिक आकर्षक और दिलचस्प है। सम सामयिक इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी ने लिखा है कि बलबन के तख्तनशीन होते ही शासन की मर्यादा फिर से स्थापित हो गयी। बलबन ने अपने बीस वर्ष के प्रधान मंत्रित्व के और बीस वर्ष शासन के काल में यानी 40 वर्षों तक निम्न श्रेणी के किसी भी व्यक्ति से कभी भी बात तक नहीं की। अपने हुकूमत के आखिरी समय तक उसने इस मर्यादा, गौरव और प्रभुत्व को कायम रखा। वह युग जबरदस्त धर्मिकता के फसादों का युग था, मगर बलबन हमेशा खुद इस फसाद से दूर रहा और हुकूमत पर इसका कोई असर नहीं पड़ने दिया। मौलवियों और उल्मावों से वह पूर्ण रूप से अप्रभावित था। सुल्तान इल्तुतमिश ने एक थोंथी कैबिनेट चालीस तुर्क सरदारों की जो बनाई थी वह उसके शासन काल में उससे दबकर रही किन्तु उसके मरते ही इन चालीस तुर्क सरदारों की कैबिनेट बेकाबू हो गयी। इसके चलते हुकूमत ऐसे लड़खड़ाने लगी कि पाँच ही वर्षों के दौरान रुक्नुद्दीन रजिया, बहराम और मसऊद सुल्तान होते हुए भी मार डाले गये और चारों ओर अराजकता व्याप्त हो गयी। बलबन ने चालीस अमीरों की इस कैबिनेट को भंग कर दिया और इनको उसके दरबार में हाजिर होने का शऊर और सलीका सीखना पड़ा। दरबार में आने पर तख्त का झुक कर सलाम करना और सुल्तान की कदमबोसी करना सभी दरबारियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया। सबकी पोशाक, सबके बैठने और उठने का सलीका, बात करने का तरीका, नजर उठाने का कायदा मर्यादित कर दिया गया। सुल्तान खुद हँसी-मजाक के स्तर पर नहीं उतरता था और न तो किसी दरबारी को उसके सामने ऐसा करने का साहस होता था। सुल्तान खुद पूरी शाही पोशाक में रहता था। दोस्तों मेहमानों, परिचितों-अपरिचितों किसी के साथ वह कोई रक्त जब्त नहीं रखता था। न्याय के मामले में वह अडिग था। किसी के साथ वह कोई रियायत नहीं करता था। अगर कोई खास व्यक्ति किसी किस्म का अन्याय करता था तो सुल्तान उसके साथ पूर्ण न्याय करने में कभी चूकता नहीं था।

मार काट, हत्या और खूनखराबा का ही यह जमाना था। चालीस तुर्क सरदारों की ताकत बेहद बढ़ी हुई थी। इल्तुतमिश के मरने पर उसका पुत्र रुक्नुद्दीन गद्दी पर बैठा लेकिन वह भी जल्दी ही मार डाला गया। जिसके बाद रयिजा सुल्तान हुई। उसे भी सरदारों ने बख्शा नहीं। बारी बारी से बहराम और मसऊदी भी तख्त नशीन होते ही मार डाले गये। नासिरुद्दीन इल्तुतमिश का सबसे छोटा पुत्र तख्त पर बैठा किन्तु उसके सौभाग्य से उसे बलबन जैसा वजीर मिल गया। अमीर षडयन्त्र से बाज नहीं आए। हिन्दू से तुर्क बना एक सरदार को जिसका नाम था रैहां, अमीरों ने आगे करके बलबन के प्रधानमंत्रित्व का विरोध किया। षडयन्त्र कुछ कामयाब भी था, मगर बलबन ने इन पर हमला करके इन्हें परास्त किया। सुल्तान नासिरुद्दीन भी बलबन की ताकत को समझ गया और उसे बाइज्जत फिर अपना वजीर बना लिया। बलबन को दरबारियों की सारी अन्दरूनी हालतों का पता था। इसीलिए उसने सुल्तान होते ही सभी दरबारियों की रीढ़ की हड्डी तोड़ दी और उसके जीते जी ये लोग किसी भी तरह की गद्दारी और षडयन्त्र के काबिल नहीं रह गये। मुल्तान के और अवध के हाकिमों ने अपने गुलाम को शराब के नशे में कोड़े से पीट कर मार डाला था। वाकया की खबर तत्काल न देने पर खबर



नवीस की अलग से खबर ली गयी। मुल्तान के हाकिम को सजा दी गयी। अवध के हाकिमों को उसने उस औरत के हवाले कर दिया जिसके खाविन्द को अवध के हाकिम हैबतखाँ ने मार डाला था यह कहते हुए कि यह मेरा गुलाम था, अब यह तुम्हारा गुलाम है। जिस तरह इसने तुम्हारे शौहर को मार डाला उसी तरह तुम भी इसका खातमा कर डालो।' अवध का हाकिम इस औरत के कदमों पर जान की माँफी माँगता हुआ गिर पड़ा। ऐसा था बलबन का न्याय।

बंगाल का हाकिम तुगरिल बेग दिल्ली से बगावत कर बैठा। खुद मुख्तार होकर उसने अपने सिक्के चलाने शुरू किये। दिल्ली से जो सेना उसे दबाने को भेजी गयी, वह हार गयी तुगरिल से। बलबन इस समय मंगोलों से जूझ रहा था। दोनों ओर से आफत थी। तुगरिल ने संगीन गद्दारी की थी। मंगोलों को परास्त कर बलबन खुद फौज लेकर बंगाल की ओर बढ़ चला। तुगरिल वेग के होश उड़ गये। वह तख्त छोड़कर भाग खड़ा हुआ। मगर बलबन ने उसका पता लगा लिया। अपने हजारों बगावतियों सहित वह मौत के घाट उतार दिया गया। राजधनी लखनौती के राजमार्ग पर सैकड़ों की तादाद में बगावतियों की लाश पेड़ों और खम्भों पर लटका दी गयी, जिनके बीच से बलबन का राजसी जुलूस निकला। जुलूस में उसके साथ उसका पफत्र बुगरा खाँ भी था। वही बंगाल का हाकिम बनाया गया। सुल्तान बलबन ने हुकूमत सौंपते हुए उसे यह तम्बीह दी कि बखुदार, अगर तुमने भी दिल्ली की शान के खिलाफ सिर उठाने की जुरत की तो तुम्हारा भी हाल इसी तुगरिल की ही तरह होगा। बलबन के शासन काल में इस तरह की बगावत या गद्दारी की कोई सूरत ही नहीं रह गयी। तख्त के प्रति वफादारी जरूरी है, चाहे जिस तरह से हो, उसे होना है। रक्त और तलवार की उसकी नीति अगर न होती तो तो भारत में मुसलिम राज कभी कायम और कामयाब नहीं हुआ होता। यह रक्त और तलवार की नीति गैरों के लिए नहीं महज अपनों के लिए अपनाई गयी थीं। वगैर रक्त और तलवार की नीति के अपने कभी काबू में लाये ही नहीं जा सकते।

दोआब तथा दिल्ली के निकट लूटपाट, रहजनी, डकैती का बोल-बाला था। दिल्ली के आसपास मीलों की एरिया में जंगल थे जिसमें मेवाती लोग गोल बाँधकर रहते थे। उसका यही धन्ध था। साधारण जनता का व्यापार और उनका जीवन हमेशा संकट में रहा करता था। दोपहर की नमाज के बाद ही दिल्ली के फाटक बन्द हो जाते थे मेवातियों के डर के मारे। कूँ पर पानी भरने को आने वाली औरतों को, व्यापारिक गाड़ियों की, दूकानों को ये डाँकू लूटते रहते थे। यातायात बन्द हो गया था। घने जंगलों में ये डाकू जाकर छिप जाते थे। कम्पिल, पटियाली, जलाखी, भोजपुर, रुहेलखण्ड, बदायूँ, अमरोहा वगैरह बड़े व्यापक क्षेत्रों में अराजकता, अव्यवस्था, रहजनी लूटपाट का राज्य था। बलबन ने इधर ध्यान दिया। सारे जंगल काट डाले गए। छोटे बड़े अनेक किले बनवाए गए जिनमें सेना रखी गयी। तमाम मेवाती पकड़े गए जिनको कत्ल कर दिया गया। रुहेल खण्ड में विशेष गड़बड़ी देखकर बलबन ने सख्त कदम उठाया और उपद्रवियों के कत्ले आम का ऐलान कर दिया। जंगलों में केवल उपद्रवियों की लाशें ही लाशें दीखती थी। दुर्गन्ध से वायुमण्डल दूषित हो गया। मगर उपद्रवी खतम हो गये और जनजीवन सुरक्षित हो गया। रक्त और तलवार की नीति किसके लिए है ? बलबन यह जानता था।

सुल्तान बलबन के शासन काल की एक महत्वपूर्ण घटना और थी मंगोलों का हमला। मंगोलों ने गजनी पर कब्जा कर लिया। यहाँ से उनका बढ़ाव पंजाब और सिन्ध की ओर होने लगा। सुल्तान बलबन 1271 में खुद लाहौर गया। उसने सभी किलों की मरम्मत करायी और उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेश पर उसने अपने चचेरे भाई शेर खाँ को शासक नियुक्त किया। लेकिन मंगोल दबे नहीं। शेरखाँ को उन्होंने मार डाला। बलबन भी तैयार था। उसने शहजादा



मुहम्मद को इस प्रदेश का हाकिम बनाया। उसने अपने दुसरे प्फत्र बुगरा खाँ को सुनाम और समाना का शासक बनाया। सन् 1279 में मंगोलों ने फिर जोरदार हमला किया किन्तु मुहम्मद, बुगरा खाँ और बलबन की सेना के आगे मंगोलों के पैर उखड़ गए और वे भाग खड़े हुए। सन् 1286 में मंगोलों ने फिर पंजाब पर हमला किया। इस बार शहजादा मुहम्मद लड़ाई के मैदान में मारा गया। शहजादे की मौत का वज्र प्रहार बलबन पर सांघातिक रूप से हुआ। जो बलबन जीवन समर में कहीं भी नहीं टूटा, वह अपने जान से भी ज्यादा अजीज शहजादे मुहम्मद की मौत से पूरे तौर पर जड़ से उखड़ गया। इस हादसे के कुछ ही महीनों बाद सुल्तान भी इस दुनिया से कूच कर गया।

मगर इस बुझते हुए चिराग की खुदाई रोशनी को बार बार सिर झुकाने को दिल करता है। कारण महल से बाहर किसी ने भी सुल्तान के रुख में कोई तबदीली या चेहरे पर कोई उदासी, मायूसी या मनहूसियत के आसार नहीं देखे। शाहजादा मुहम्मद योग्य शासक, योग्य सैनिक, साहित्यिक और सुसंस्कृत था। अमीर खुसरो और अमीर हसन जैसे साहित्यकारों और विद्वानों का आश्रयदाता था। फारसी के शायर शेख सादी को भी उसने अपने यहाँ आमंत्रित किया था। वह आज्ञाकारी और विनयशील युवक था। सुल्तान बलबन उसे बहुत चाहता था। उसी को उसने अपना उत्तराधिकारी बनाया था। मगर शहजादे की मौत उनके लिए तुषारपात हो गयी। वह इस घटना के बाद जितने दिन भी जिया, महज दिखावे के रूप में वह राजकाज करता रहा। दरबार में उसी तड़क-भड़क और शान से वह जाता था मगर रात में अपने महल में वह पागलों की तरह चिध्दाड़ मार कर रोता था। अपने ऊपर वह धूल फेंकता था। अपने बदन के कपड़े फाड़ डालता था। जर्जर शरीर, वृद्धावस्था, शहजादे की मौत से शोकातुर सुल्तान बलबन सन 1286 में आखिर रोते रोते विलख विलख कर दुनिया से कूच कर गया और उसके बाद दो चार वर्ष तक भी उसका उत्तराधिकारी उसका नाती बुगरा खाँ का पुत्र कैकबाद शासन को संभाल न सका। सन 1290 में कैकबाद भी मारा गया। गुलाम वंश समाप्त हुआ। खिलजी वंश शुरू हुवा।

गुलाम वंश नाम क्यों ? इसलिए कि इसके सभी सफल शासक गुलाम थे। जो भी सुल्तान बना पुत्र की या पुत्री की हैसियत से उसकी हत्या कर दी गयी। कुतुबुद्दीन इस वंश का संस्थापक मुहम्मद गोरी का गुलाम था। इल्तुतमिश कुतुबुद्दीन का गुलाम था। बलबन इल्तुतमिश का गुलाम था। और इन्हीं तीनों ने इस वंश की हुकूमत को सम्भाला तथा भारत में जड़ जमाई। वंश परम्परा के अनुसार जो भी तख्त पर बैठा एक नासिरुद्दीन को छोड़कर सभी मार डाले गये। इल्तुतमिश के तीन पुत्र रूकनुद्दीन, बहराम और मसरुद तथा पुत्री रजिया और बलबन के लड़के का लड़का कैकबाद सभी मार डाले गये। उनका राज्य नहीं चला। नासिरुद्दीन भी बीस वर्षों तक चैन से हुकूमत कर सका महज बलबन के प्रधान मंत्री होने के कारण, जो गुलाम था। इसीलिए इस वंश को गुलाम वंश कहा जाता है। तख्त के अधिकारी और सुल्तान के उत्तराधिकारी गुलाम हुए न कि शहजादे।

न्याय करना, शान्ति की स्थापना करना, सर्वसाधारण को सुखी बनाने की जी तोड़ कोशिश करना, सुव्यवस्था संगठन, अनुशासन, सड़कों की सुरक्षा, असामाजिक तत्वों का उन्मूलन, बगावतियों और राजद्रोहियों का दमन, तानाशाह को ही नहीं, सत्ता में या मलिकई में जो भी होता है, उसे करना पड़ता है यह कड़वी घूँट है। इसको पिये बिना कोई भी अहम काम हो ही नहीं सकता। गुलाम वंश के शासकों के सामने सभी किस्म की समस्याएँ थीं जो सल्तनत को कभी खत्म कर दिये होते मगर दिलेरी से इन समस्याओं का जिसने मुकाबला किया उसने कामयाबी जरूर हासिल की। जब देश की दुर्दशा इस हद तक हो जाए तो क्या करना चाहिए ?



इतिहास का दर्द



क्या प्रजातंत्र के नाम पर हर प्रकार की उलूल जलूल बातों को न्यायपालिका के अधीन करके कार्यपालिका को सिगरेट की एक कश खींचकर सोफा से अपनी पीठ सटा लेनी चाहिए या कुछ करना भी चाहिये। गुजरे तवारीखी जमाने कुछ तो बता ? सभ्यता की चोटी पर चढ़े जा रहे ए विकासमान आकाशी युग ! फुरसत मिले पीने—पिलाने से तो जरा इस बात पर भी गौर करना ।





शहजादे, जो इतिहास नहीं कहानी बन कर रह गये

महाकवि एवं महान नाटककार विलियम शेक्सपीयर के इस उद्घोष में कि कुछ जन्म से ही महान होते हैं, कुछ प्रयत्नों से महानता प्राप्त करते हैं और कुछ जबरदस्ती महान बनाये जाते हैं, ऐतिहासिक सत्य है। इतिहास में इस बात के प्रमाण भरे पड़े हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य ने महानता प्रयत्न के द्वारा प्राप्त की किन्तु अशोक जन्म से ही महान था। बाबर ने महानता कठिन प्रयत्नों के उपरान्त प्राप्त की थी। शेरशाह भी प्रयत्नों से ही महान हुआ था किन्तु अकबर जन्मजात महान था और उसके पिता हुमायूँ पर महानता थोपी गयी थी जिसकी रक्षा में उसका सम्पूर्ण जीवन ठोकरों में ही बीत गया। अगर उसका पुत्र अकबर जन्मजात महान न होता तो हुमायूँ का जीवन वृत्तान्त इतिहास के पन्नों से उड़ चुका था। अकबर जैसे महान पुत्र की स्थायी उपलब्धियों एवं कृत्यों ने हुमायूँ को महान पुत्र का महान पिता प्रमाणित किया।

किन्तु निरपेक्ष और उदासीन इतिहास ऐसे भी उदाहरणों से भरा है जो महानता के दावेदार थे और जमाना उनकी महानता को स्वीकार करने के लिए व्यग्र था किन्तु वे कभी महानता की सीढ़ियों पर चढ़ नहीं पाये, उलटे उनका ऐसा कारुणिक और दुखद अन्त भी हुआ कि वे विस्मृति के गहन गर्त में सदा सदा के लिए गिर गये ऐसे कि वफादार जमाना भी उनको कभी याद नहीं करता। लेखनी उन्हीं कुछ भाग्यहीन शहजादों की करुण गाथा गाने चली है जो चले थे इतिहास बनने किन्तु कहानी बनकर रह गये। महान ऐतिहासिक महापुरुषों की जीवनी से जुड़े होने के कारण उनकी चर्चा मात्र हो जाती है। कारण स्पष्ट है कि जमाना उन्हीं को याद करता है जो जमाने को एक दिशा देते हैं। मानवता का मार्ग प्रशस्त करते हैं, इतिहास को एक मोड़ पर ला देते हैं। किन्तु भाग्य ने जिनका साथ नहीं दिया उन युवा सम्भावनाओं की आँखों के मोती ज्यादा कीमती हैं। बेचारी अबोध लेखनी प्रक्षिप्त मोतियों को लेकर विलखने को अपना सौभाग्य मानती है जो कभी तख्त ताऊस में जड़े नहीं गये या ताज में चमके नहीं। लेखनी भावुक होने के साथ साथ कुछ समझदार भी प्रतीत होती है, क्योंकि वह तख्त ताऊस की भी भरी गमजादा आँखों के करीब है और ताजमहल के परिसर में भी यदा कदा उदास घूम आया करती है। जो पा न सके उसे खोना क्या ? जो सम्हाल कर रख न सके हमेशा अपने पास, वह पाता क्या ? जब हमें वह लेकर हमेशा सोना ही है जिसके गायब होने की हमेशा आशंका बनी रहती है तो हम किस उपलब्धि का उत्सव मनाएँ ? विचार की इस तुला पर हमारे ये सन्दर्भित और इस लेख के प्रस्तावित विषयस्वरूप शहजादे किसी भी महान से कम नहीं हैं।

मध्य कालीन भारतीय इतिहास में ऐसे आख्यानों की बहुलता है। इस काल का इतिहास तुर्क, अफगान और मुगलों का इतिहास है। खून का दरिया बहाना और इसी में तैरते रहना इस काल की विशेषता रही है। महमूद गजनी, मुहम्मद गोरी, चंगेज खाँ, तैमूर लंग, नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली के रोंगटे खड़े करने वाले कारनामों तथा रक्त और तलवार के बल पर काफिर मुल्क पर हुकुमत करने के अभियानों के दौर जितने चले उतनी ही दिल दहला देने वाली घटनाएँ भी इस दौर में होती रहीं। ये लोग आपस में भी इसी ताव से जूझते रहते थे जिस ताव से गैरों से। ऐसा लगता है प्रकृति की संहारकारी प्रवृत्ति के ये प्रकट स्वरूप थे। आदमी की खाल खिंचवा लेना और उसमें भूसा भरना, आदमी का माँस काट लेना और उसका पुलाव बनवाकर खाल खींचे गये आदमी के सगे-सम्बन्धियों को खिलाना और आँखें निकलवा लेना वगैरह वगैरह इस जमाने में आम बात थी। यह तवारीखी माहौल ही कुछ इसी कदर का था। ऐसे में आपस में व्यवहार के नजरिये के लिए ये लोग दूसरा चश्मा कहाँ से लाते ? या तो



सर झुकाओ या सर कटाओ यही दो विकल्प थे। इतिहास के इस दौर में जो फँस गए वे चाहे गैर रहे हों या अपने सगे सम्बन्धी, वगैर ईनाम पाए नहीं रहे। ऐसे इनामयापता जिन कुछ शहजादों के नाम पर आँखें डब डबा गयी हैं, वे हैं खिज़्र खाँ, खुसरों, दारा शिकोह और औरंगजेब के लायक बेटे अकबर।

अलाउद्दीन खिलजी के चार पुत्र थे 1— खिज़्र खाँ 2— शादी खाँ 3— कुतुबुद्दीन मुबारक 4— शहाबुद्दीन उमर। खिज़्र खाँ ज्येष्ठतम पुत्र होने के कारण उसका उत्तराधिकारी घोषित किया गया था। शासन के कार्यों में वह भी भाग लेता था। गुजरात के बघेल राजा कर्णदेव की पुत्री देवल देवी से उसका विवाह हुआ था। कर्ण देव की रानी कमला देवी भी सन् 1299 में गुजरात पर हुए हमले में अलाउद्दीन खिलजी के हाथ लग गयी थी, जिनको उसने अपने हरम में रख लिया। देवगिरि पर मलिक काफूर सेनापति ने सन् 1306-07 में हमला किया। क्योंकि राजा कर्णदेव अपनी पुत्री देवल देवी के साथ यहीं भाग कर छिपा हुआ था। देवगिरि का यादव राजा रामचन्द्र हार गया। देवल देवी भी पकड़ ली गयीं। उन्हें दिल्ली भेज दिया गया, जहाँ शहजादा खिज़्र खाँ से उसका विवाह कर दिया गया। यादव राजा रामचन्द्र ने भी अपनी कन्या अलाउद्दीन से व्याह दी और उसे अपना दामाद बना लिया। खिज़्र खाँ की स्थिति अच्छी थी। अलय खाँ जो अलाउद्दीन का दाहिना हाथ था खिज़्र खाँ का मामा था। खिज़्र खाँ की माँ मलिका जहाँ भी शासन के कार्यों में रुचि लेती थी। सन् 1312 में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी बीमार पड़ा। सन् 1314 तक उसकी हालत और भी बिगड़ने लगी। सुल्तान की सेवा में उसका सबसे अधिक विश्वासपात्र सेवक मलिक काफूर हमेशा हाजिर रहता था। उसकी नीयत खुद सुल्तान बनने की होने लगी। मगर खिज़्र खाँ उसके रास्ते में रोड़ा था। कैसे इस रोड़े को दूर किया जाय यही उसकी चिन्ता थी।

उधर खिज़्र खाँ, मलिक जहाँ और अलय खाँ का अपना गुट था। मलिक काफूर की नीयत से ये लोग वाकिफ थे। मगर मलिक काफूर इस समय सेनाध्यक्ष होने के नाते शासन में सर्वशक्तिमान था। एक तरह से अलाउद्दीन खिलजी भी उसी के गिरफ्त में था। मलिक काफूर ने अलाउद्दीन खिलजी के कान खिज़्र खाँ के खिलाफ भर दिये थे और पिता-पुत्र में तफरका पैदा कर दिया था। काफूर ने सुल्तान से कह दिया कि अलय खाँ, मलिका जहाँ और खिज़्र खाँ आपकी जान लेना चाहते हैं। सुल्तान की इस मनोदशा में मलिका जहाँ ने सुल्तान के सामने अपने दूसरे पुत्र शादी खाँ का विवाह अलय खाँ की लड़की से करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर दिया जिससे अलाउद्दीन खिलजी को यकीन हो गया कि वाकई इन लोगों का इरादा नेक और पाक नहीं है। उसका सुबहा बढ़ गया। शाही फरमान के जरिए शहजादा खिज़्र खाँ को अमरोहा भेजा गया मगर अपने पिता की बिगड़ती तबीयत का हाल सुनकर वह तुरन्त लौट आया। यह खिज़्र खाँ की हुक्मअदूली समझी गयी। मलिक काफूर हमेशा इन छोटी-छोटी बातों से बूढ़े बीमार और जर्जर अलाउद्दीन के कान भरता रहता था। लेहाजा सुल्तान ने नाराज होकर खिज़्र खाँ और शादी खाँ को ग्वालियर के किले में कैद कर दिया। अलय खाँ का कत्ल करा दिया गया और मलिका जहाँ नजरबन्द कर दी गयी। अलाउद्दीन खिलजी ने अपने छोटे पुत्र शहाबुद्दीन उमर को अपना वारिस ऐलान कर दिया।

सेनाध्यक्ष मलिक काफूर की चारों ओर तूती बोलने लगी। अलाउद्दीन खिलजी असहाय था। बूढ़ा और जर्जर रोगी, चिड़चिड़ा सुल्तान मलिक काफूर की चाल से अपने परिवार के लोगों और विश्वासपात्र अमीरों सरदारों से वह अलग कर दिया गया था। उसका साम्राज्य उसके होते हुए भी चरमरा कर टूट रहा था। पिंजरे में बन्द घायल शेर जैसा अलाउद्दीन मृत्यु शैया पर तड़प रहा था। गुस्से में वह अपने ही बदन का माँस नोच डालता था। यह वही अलाउद्दीन खिलजी



था जो दूसरों के माँस नोच डालने का विशेषज्ञ था। अब इसको दुनिया में जीवित न रहने देने की जरूरत समझ कर मलिक काफूर ने उसे जहर पिलाकर उसका काम तमाम कर डाला और वारिसनामा के मुताबिक अलाउद्दीन के सबसे छोटे पुत्र शहाबुद्दीन उमर को तख्त पर बिठाकर खुद उसका संरक्षक बन बैठा। उसके तीनों भाई खिज़्र खाँ, शादी खाँ, और कुतुबुद्दीन मुबारक अपनी माँ मलिकाजहाँ के साथ ग्वालियर के किले में कैद थे जहाँ मलिक काफूर ने खिज़्र खाँ और शादी खाँ की आँखें निकलवा डाली। कुतुबुद्दीन मुबारक यह सब देखकर किसी प्रकार रिश्तत देकर कैदखाने से बच निकलने में कामयाब हो गया। कैदखाने से बाहर आकर अमीरों और सरदारों की मदद से उसने मलिक काफूर को युद्ध में मार डाला और खुद शहाबुद्दीन उमर का संरक्षक बन कर शासन करने लगा, मगर शहाबुद्दीन की भी दो महीने में उसने आँखें निकलवा डाली। यह सब कुछ अलाउद्दीन खिलजी की मौत के बाद एक ही महीने में हो गया। नृशंस कुतुबुद्दीन आतंकवादी तरीके से हुकूमत करने लगा। उसने ग्वालियर के कैदखाने से खिज़्र खाँ को दिल्ली लाये जाने का फरमान जारी कर दिया। वहीं खिज़्र खाँ तख्त का असली हकदार था। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का वह सबसे बड़ा लड़का था। गुजरात के राजा कर्णदेव की पुत्री देवल देवी का पति था। शासन के कार्यों में पटु था। अलाउद्दीन ने उसे ही अपना वारिस ऐलान किया था। मगर मलिक काफूर ने उसे कहीं का नहीं रखा। अब उसका कातिल भाई उसके खून का प्यासा हो उठा। आखिर अन्धा बना दिया गया। खिज़्र खाँ को दिल्ली बुलाया गया। उसकी पत्नी देवल देवी यह हुक्मनामा सुनकर पछाड़ खा कर गिर पड़ी। उसने अपने पति के पैर पकड़ लिये और दिल्ली न जाने को कहा। मगर लाचारी इसी का नाम है। जाएँ तो जाएँ कहाँ। बिलखती हुई अपनी पत्नी से अन्धा शहजादा खिज़्र खाँ विदा होकर दिल्ली पहुँचा जहाँ उसके लिए सारा प्रबन्ध किया गया था। पहुँचते ही वह मौत के घाट उतार दिया गया। कहाँ खिज़्र खाँ दिल्ली का सुल्तान होकर सम्पूर्ण भारत पर हुकूमत करता और कहाँ उसका यह दुःखद अन्त।

दो शब्द इस खूनी खिलजी वंश के लिए। अलाउद्दीन ने अपने चचिया श्वसुर सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी को उस समय मार डाला था जब सुल्तान उसको गले लगाकर उसकी विजय की खुशी में उसकी पीठ थपथपा रहा था जब कि उसकी आँखों में अभागे नालायक दामाद के लिए प्रेम के आँसू उमड़ रहे थे। वही अलाउद्दीन खिलजी बीस वर्ष बाद अपने सेवक सेनापति मलिक काफूर द्वारा जहर देकर मार डाला गया। उसी का ज्येष्ठ पुत्र खिज़्र खाँ इस अधम गति को पहुँचा। उसके सभी भाई मारे गए। खुद कुतुबुद्दीन मुबारक खिलजी तीन ही वर्षों में अपने सेनापति नासिरुद्दीन खुसरो द्वारा मार डाला गया। नासिरुद्दीन खुसरो हिन्दू से तुर्क बना था। वह भी एक ही वर्ष में इन्दरपत के मैदान में 1320 ई में मियाल पुर के हाकिम गाजी तुगलक द्वारा मार डाला गया। कुल पच्चीस तीस वर्षों का इतिहास खिलजी वंश का यही है जबकि अलाउद्दीन खिलजी के वंशजों में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जिसे गाजी तुगलक दिल्ली के तख्त पर बैठाता। लहाजा उसे मजबूरन दिल्ली का सुल्तान बनना पड़ा और तुगलक वंश शुरू हुआ।

ऐसी ही दर्दनाक कहानी है शहजादा खुसरो की जिसके नाम पर इलाहाबाद का खुसरो बाग आज भी खून के आँसू बहाता है। शहजादा खुसरो जहाँगीर का ज्येष्ठतम पुत्र था। मानसिंह उसका मामा था। उसकी माता मान बाई थी, जो मानसिंह की बहिन राजस्थान के अम्बर राज्य के राजा भारमल की पुत्री थी। बादशाह अकबर खुसरो को बहुत प्यार करता था। खुसरो बहुत ही रूपवान, गुणवान और सब भाँति सुयोग्य था। अकबर का जमाना प्यार और मुहब्बत का जमाना था। हँसी-खुशी का जमाना था। आम जनता खुशहाल थी। अकबर हर दिल अजीज



था। अकबर की बढ़ती उम्र में फतेहपुर सीकरी के शेख सलीम शाह चिश्ती की दुआ से एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सलीम रखा गया फतेहपुर सीकरी के शेख की याद में। सलीम के पहले भी अकबर के कई पुत्र हुए थे मगर वे शैशवास्था में ही मर गये। एक पुत्र यही सलीम बच रहा जो अकबर के बाद दिल्ली का बादशाह बना।

मगर सलीम भी अकबर के जीवन के आखिरी दिनों में बगावती और उपद्रवी हो गया। वह बहुत मनमौजी था। वह बादशाहत के लिए बहुत व्यग्र हो गया था। उसे अफीम और शराब की बहुत बुरी लत थी। इससे अकबर को दुख था। मगर एकलौता पुत्र होने के नाते उसकी सारी ज्यादातियों को वह बरदाश्त करता रहता था। अकबर के बहुत अजीज दोस्त अबुल फजल की अगस्त सन् 1602 में सलीम ने हत्या करा दी। इस सदमें को अकबर सह न सका। सन् 1605 में अकबर भी सलीम के इन्हीं कारनामों के कारण घुट-घुट कर मर गया। इसके पहले उसने सलीम के बदले सलीम के बेटे और अपने लायक सुयोग्य नाती शहजादा खुसरो को तख्त का वारिस बनाने का निश्चय किया। मामा मानसिंह भी यही चाहते थे। मगर नजदीकी हितैषियों ने पिता पुत्र में समझौता करा दिया और बादशाह अकबर ने अपना इरादा बदल दिया और सलीम को ही उसने अपना उत्तराधिकारी बनाया। एक पिता-पुत्र में समझौता तो हो गया किन्तु दुसरे पिता-पुत्र सलीम और खुसरो में द्वन्द्व का बीजारोपण हो गया जो आगे चलकर भयानक हो गया।

बादशाह अकबर की मृत्यु के उपरान्त शहजादा सलीम गुरुवार 3 नवम्बर सन् 1605 में आगरे के किले में नुरुद्दीन मुहम्मद जहाँगीर के नाम से तख्त पर बैठा और अपने हाथों उसने राजमुकुट अपने सिर पर रखा। इतना अधीर था बादशाहत के लिए वह। शहजादा खुसरो के मामा मान सिंह ने उसको तख्त पर बिठाने का असफल प्रयत्न किया जिसका नतीजा यह हुआ कि तख्तनशीन होने के तत्काल बाद ही जहाँगीर ने खुसरो को आगरे के किले में कैद कर दिया। 6 अप्रैल सन् 1606 में अकबर की मजार देखने के बहाने शहजादा खुसरो सिकन्दराबाद न जाकर दिल्ली की ओर चल पड़ा। रास्ते में अमीर उमरा एवं असरदार लोग उससे मिलते गये और धीरे-धीरे उसके पास 12 या 15 हजार सैनिक भी हो गये। दिल्ली होते हुये शहजादा खुसरो लाहौर पहुँच गया। सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव ने भी उसकी यथाशक्ति सहायता की, मगर खुसरो का अधिकार लाहौर पर न हो सका। बादशाह जहाँगीर ने उसका पीछा किया। शहजादा खुसरो काबुल की ओर भाग खड़ा हुआ, मगर रास्ते में ही वह पकड़ लिया गया और कैदी के रूप में बादशाह जहाँगीर के सामने उसे हाजिर किया गया। खुसरो के सभी अनुयायियों को कठोर दण्ड दिया गया। कितनों को सूली दे दी गयी। गुरु अर्जुनदेव पर दो लाख का जुर्माना किया गया। जुर्माना अदा न करने पर गुरु अर्जुनदेव को फाँसी दे दी गयी। शहजादा खुसरो को कारागार में डाल दिया गया।

अकबर ने कान्धर जीत लिया था सन् 1594 में। शहजादा खुसरो की बगावत के समय ईरान के सम्राट ने खुरासान के सरदार को कान्धार पर हमला करने के लिए उकसाया। मुगल सेनापति किलेदार शाहबेग खाँ ने वीरता से सामना किया और इरानियों को पीछे हटने के लिए बाध्य होना पड़ा। खुद बादशाह जहाँगीर भी कान्धार गया था। वापसी यात्रा में खुसरो के हिमायितियों ने जहाँगीर की हत्या का असफल प्रयत्न किया, किन्तु जहाँगीर को यह षडयन्त्र पहले ही मालूम हो गया। षडयन्त्रकारी पकड़े गये और फाँसी पर लटका दिये गये। शहजादा खुसरो को भी अन्धा कर दिया गया। जहाँगीर ने बाद में इलाज करायी। उसकी एक आँख ठीक हो गयी और दूसरी भी कुछ काम करने लगी। अब तक नूरजहाँ बेगम के चरण जहाँगीर की दुनिया में नहीं पहुँचे थे। सन 1611 में जहाँगीर ने नूरजहाँ को अपना बेगम बनाया। सन 1608



में जहाँगीर ने मेवाड़ के राजा अमर सिंह को हराया था। यह युद्ध जहाँगीर के दूसरे पुत्र शहजादा खुर्रम के नायकत्व में लड़ा गया था, जिसमें खुर्रम ने बड़ी वीरता प्रदर्शित की थी। जिससे जहाँगीर बहुत ही खुश हुआ था। सन 1616 में अहमद नगर और गोलकुण्डा-बीजापुर के विरुद्ध जहाँगीर ने शहजादा खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि देकर एक बड़ी सेना के साथ दक्षिण के मोर्चे पर भेजा। इसमें शाहजहाँ शहजादा खुर्रम को प्रारम्भिक सफलता प्राप्त हुई और वह दिल्ली लौट आया। सुयोग्य मन्त्री अहमद नगर राज्य के मलिक अम्बर ने पुनः मुगलों को अपने राज्य से मार भगाया। इसलिए सन 1621 में शहजादा खुर्रम (शाहजहाँ) फिर भेजा गया। इस अभियान में खुर्रम अपने साथ अपने बड़े भाई शहजादा खुसरो को भी लेते आया था। खुर्रम की बढ़ती हुई ताकत से नूरजहाँ को ईर्ष्या होने लगी थी और उसकी नीति खुर्रम के खिलाफ होने लगी थी। खुर्रम इसे भाँप गया। शाहजहाँ ने मलिक आबर से सन्धि कर ली और बुहारनपुर में अपने तख्त के प्रतिद्वन्द्वी शहजादा खुसरो की उसने हत्या करवा दी। दिल्ली जहाँगीर के पास यह खबर भेज दी गयी कि खुसरो पेट में वायु गोला के कारण मर गया। इस समय तक न जाने किस शुभ घड़ी की इन्तजार में उसकी माँ मान बाई जीवित थी। पुत्र की हत्या का समाचार वह सह न सकी और उसने यह समाचार सुनते ही आत्महत्या कर ली। खुर्रम भी हिन्दू माता का पुत्र था। उसकी माँ थी जोधाबाई राजा उदय सिंह की कन्या— पिता तो जहाँगीर ही था। यही शाहजहाँ लायक बरखुर्दार खुर्रम अपने योग्यतम पुत्र दाराशिकोह की उसके छोटे भाई औरंगजेब द्वारा हाथियों के पैर के नीचे कुचलवा कर मार डाले जाने का समाचार सुनने के लिए आगरे के किले में सात-आठ वर्ष तक कैद रहा और घुट-घुटकर तड़प-तड़प कर ताजमहल को टुकुर-टुकुर देखते हुए गल गल कर मरा, किन्तु उसके लायक बेटे औरंगजेब को अपने बाप पर जरा भी रहम नहीं आई।

तवारीख में जगह घेर कर बैठ रहने से उलटी-सीधी कारगुजारी से, निर्दोष खून बहाने से और एशोआराम की जिन्दगी गुजारने की फिक्क से तवारीख को शर्मिन्दा करने वाले सुल्तानों, बादशाहों, राजाओं-महाराजाओं से ये अभिशप्त शहजादे या राजकुमार कहीं ज्यादा अच्छे हैं क्योंकि ये सच्चे इन्सान थे। जहाँ दरिन्दगी का बोल बाला हो, वहाँ इन्सानियत का दर्द पालना भी एक किस्म का गुनाह ही माना जाता है। पता नहीं तवारीख ऐसे मामलात में क्यों खामोशी अख्तियार कर लेता है ? यह लेखनी इतिहास के ध्वस्त महलों के मलवे से कुछ ऐसे ही तत्वों की खोज में है जिनसे इन्सान को कुछ राहत नसीब हो।

आइए, एक नजर उस अभागे शहजादे पर भी डालते चलें, जिस का नाम है दारा शिकोह, जो शाहजहाँ का सबसे प्यारा पुत्र था और वही तख्त का असली हकदार था क्योंकि वह ज्येष्ठतम पुत्र था और सब भाँति समर्थ और सुयोग्य था। शाहजहाँ के चार पुत्र थे—1—दारा शिकोह, 2—शुजा, 3—औरंगजेब और 4—मुराद। शहजहाँ ने ज्येष्ठतम पुत्र दारा शिकोह को अपना उत्तराधिकारी बनाया था। वही राजकाज में उसकी सहायता करता था और पंजाब तथा दिल्ली का शासन सम्हालता था। बंगाल की हुकुमत शुजा के मातहत था। गुजरात मुराद के अधीन था। औरंगजेब को सम्पूर्ण दक्षिण का सूबेदार बनाया गया था। वैसे तो ये सभी पुत्र शासन की क्षमता से सम्पन्न थे, किन्तु दारा शिकोह में कुछ अन्य दिव्य गुण थे। वह विद्या व्यसनी था, धर्मिक दृष्टि से उदार था। अपने परदादा सम्राट अकबर के दीन इलाही मजहब से वह प्रभावित था। शहजादा खुसरो की तरह वह हिन्दू ग्रन्थों का सम्मान करता था। उसकी प्रेरणा से उपनिषद्, भगवद्गीता, योग वशिष्ट, रामायण आदि ग्रन्थों का फारसी में अनुवाद हुआ। वह शिक्षा और साहित्य का प्रेमी था। औरंगजेब कट्टर सुन्नी मुसलमान था। हिन्दू शिक्षा और



साहित्य का विरोधी था। इतिहास के भी वह खिलाफ था। शुजा और मुराद खाऊ-पीऊ ऐशो-आराम पसन्द भोगवादी शहजादे थे। शुजा शिया मत का था और मुराद सुन्नी ।

सन् 1657 में शाहजहाँ बीमार पड़ा और शहजादों में बादशाहत हासिल करने का जंग छिड़ गया। सबसे पहले मुराद ने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी। शुजा सेना लेकर बंगाल से आगरे की ओर चल पड़ा। औरंगजेब ने मुराद को अपनी ओर मिला लिया लालच देकर क्योंकि वह जानता था कि मुराद को आसानी से बेवकूफ बनाया जा सकता है। दाराशिकोह भी तैयार था। उसने शुजा को बनारस में हराया। शुजा हार कर बंगाल चला गया। तबतक औरंगजेब और मुराद की सम्मिलित सेना ने दारा शिकोह की सेना पर हमला कर दिया। धर्मान्त नामक स्थान में जिसमें राजा यशवन्त सिंह ने दारा की तरफ से मुकाबला किया, मगर वे हार गये और घायल हो गए। औरंगजेब और मुराद अब आगरे की ओर बढ़े। इस बार दाराशिकोह ने सामूगढ़ नामक स्थान में सामना किया, किन्तु हार गया। उसके दस हजार सैनिक मारे गये। औरंगजेब और मुराद आगरे पहुँचे। दारा शिकोह आगरे से भाग कर दिल्ली पहुँचा सपरिवार। औरंगजेब ने यहाँ भी उसका पीछा किया। शाहजहाँ ने समझौता कराने की बेकार कोशिश की।

इस बीच औरंगजेब ने मुराद की फौज को रिश्वत देकर अपनी ओर मिला लिया और मुराद को गिरफ्तार कर लिया। दारा शिकोह का पीछा किया उसने और सेना के साथ दिल्ली को घेर लिया। दारा शिकोह यहाँ से भागकर लाहौर पहुँचा। औरंगजेब ने दारा के पीछे सेना लगा दिया और दिल्ली में उसने बहैसियत बादशाह के अपना राज्याभिषेक करा डाला। उसने अपने को सम्राट घोषित कर दिया। शाहजहाँ को भी उसने आगरे के किले में कैद कर लिया। शुजा और दारा के पुत्र सुलेमान शिकोह से लड़ने के लिए उसने सेना भेज दी।

राजपूत सरदार जयसिंह और यशवन्त सिंह औरंगजेब से मिल गये। अब दारा शिकोह का कोई सहायक नहीं रह गया। दारा लाहौर से भागकर गुजरात पहुँचा और वहाँ से अजमेर आया। अजमेर के निकट देवराई नामक स्थान में औरंगजेब ने दारा को फिर हरा दिया और दारा अहमदाबाद के रास्ते बिलोचिस्तान की ओर भाग खड़ा हुआ। यहाँ उसने एक बिलोची सरदार के यहाँ शरण ली, जिसने दारा के साथ विश्वासघात किया। दारा शिकोह और उसके दूसरे पफ़त्र सुपीर शिकोह को कैद करके उसने दिल्ली भेज दिया औरंगजेब के पास। औरंगजेब ने अपने बड़े भाई का अपमान करने के लिए गन्दे कपड़े पहनाकर एक गंजे हाथी पर बिठाकर शहर में घुमाया और उस पर धर्मद्रोह का दण्ड लगाकर सूली पर लटका दिया। उसके बड़े पफ़त्र सुलेमान शिकोह को ग्वालियर के किले में विष देकर मरवा डाला। शुजा को भी हराया और वह बंगाल से दराकान की पहाड़ियों की ओर भाग गया जहाँ बाघ जाति की जंगली जाति ने उसे मार डाला। मुराद की भी औरंगजेब ने हत्या करा दी। इस प्रकार उत्तराधिकार के युद्ध में विजयी होकर वह भारत का सम्राट बना। दारा की याद में 7 वर्षों तक घुट-घुटकर शाहजहाँ ने 31 जनवरी सन् 1666 में इस दुनिया से कूच किया। उसने भी उत्तराधिकार का युद्ध किया था। उसी के पफ़त्र औरंगजेब ने भी कुछ इसी तरीके से उत्तराधिकार का युद्ध जीत लिया। दारा हो या औरंगजेब, इतिहास को इससे कुछ लेना देना नहीं है, तभी तो वह जीते हुए लोगों का ही ढोल पीटता है। हारे हुएों को जब कोई नहीं पूछता तो इतिहास तो इतिहास ही क्यों यह बेकार का काम करने लगा। लेकिन लेखनी इतनी निर्दयी नहीं होती। वह तो इन काले पन्नों में केवल दारा को ढूँढ़ रही है।

औरंगजेब अक्षय यौवन लेकर उत्पन्न नहीं हुआ था। वह भी वृद्ध हुआ। उसकी भी जीवनेन्द्रियाँ अन्तोगत्वा शिथिल हुई और उसे भी अपने जीवन की उत्तरवर्ती अवस्था में युवा शक्ति का सामना करना पड़ा। उसके चार पफ़त्र थे— अकबर, मुअज्जम, आजम शाह और



कामबख्श। ज्येष्ठतम होने के कारण अकबर ही औरंगजेब का उत्तराधिकारी होता, किन्तु समय से पूर्व ही कुछ ऐसी घटना घटी कि अकबर इतिहास के पन्नों से विलुप्त ही नहीं हो गया कहानी का भी पात्र नहीं रह गया।

शहजादा अकबर की अध्यक्षता में मुगल सेना ने मेवाड़ के राणा राजसिंह पर आक्रमण किया। राजसिंह को भागकर पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी और अकबर को मेवाड़ का शासक बनाया गया। राणा राज सिंह ने पलटकर चित्तौड़ पर आकस्मिक आक्रमण कर दिया और उस पर अधिकार कर लिया। राजपूतों ने शाहजादा अकबर को अपने पक्ष में कर लिया और वह राजपूतों से जा मिला। औरंगजेब यह सुन कर हैरान रह गया, मगर उसने प्रति उत्पन्न मति से काम लिया। उसने एक पत्र लिख कर राजपूत छावनी में यह प्रचारित किया कि, वाह बेटे अकबर तूने कमाल किया। इसी प्रकार राजपूतों को भरमाये रहो तब तक हम इनका सफाया कर डालते हैं। बेचारा अकबर खामखाह बैठे-बैठाए राजपूतों के सन्देह का शिकार बन गया। अब वह घर का रहा न घाट का। उसे मेवाड़ छोड़ कर भागना पड़ गया। उसने दक्षिण भारत में भाग कर शरण लेने का निश्चय किया। जब राठौर सरदार दुर्गा दास को तथ्य का पता चला तो उन्होंने अपने प्राणों की बाजी लगा कर शहजादा अकबर को दक्षिण में शम्भाजी के दरबार में उसको पहुँचा दिया। औरंगजेब ने राणा राज सिंह से सम्मान जनक सन्धि कर ली। जजिया हटा लिया। राणा की उपाधि मान ली और उसका राज्य उसे वापस कर दिया। उसके तत्काल बाद ही उसने शहजादा का पीछा किया और फौज लेकर दक्षिण भारत की ओर चल पड़ा।

शिवाजी महाराज के पफत्र शम्भाजी उस समय मराठा राज्य के सिंहासन पर आसीन थे। यहीं आकर शहजादा अकबर ने आश्रय ग्रहण किया। औरंगजेब ने शम्भा जी पर पूरी ताकत से हमला कर दिया। शम्भा जी को अपने प्रधान मंत्री कवि कलश के साथ पकड़ लिया गया। कठोर यातना देकर मार डाला गया। ऐसे में शहजादा अकबर जान बचाने की फिक्र में फिर भागा और इस बार भागा हिन्दुस्तान से और ईरान चला गया, जहाँ से वह फिर कभी न तो लौटा और न उसका कुछ पता ही चला कि उसकी यह कहानी पूरी होती। एक छोटी भूल के कारण उसे यह दिन देखना पड़ा। मगर ऐसा अगर नहीं भी हुआ होता तो यह निश्चित नहीं था कि तख्त का असली वारिस होते हुए भी वह तख्तनशीन हो ही जाता क्योंकि उसके शेष तीन बन्धुगण उसके खून के प्यासे रहते। जब तक कोई तीन मार नहीं दिये जाते, तब तक एक कोई तख्तनशीन नहीं हो पाता। औरंगजेब के शेष तीनों पफत्रों में— मुअज्जम, आजम और कामबख्श में युद्ध हुआ तख्त के लिए, जिसमें मुअज्जम कामयाब हुआ और बाकी दो मार डाले गये। बेचारे शाहजादा अकबर को इस युद्ध में शिरकत करने का मौका ही नहीं मिला।

इसके बाद सन् 1857 तक जितने भी बादशाह दिल्ली के तख्त पर बैठे सबको अपने भाइयों से निपटना पड़ा। भाइयों के खून से रंगे सिंहासन पर एक ही पल के लिए सही, बैठना इनके लिए निहायत ही जरूरी होता था। प्रत्येक भाई दूसरे के खून का प्यासा रहता था, इसलिए इन भ्रातृद्रोहियों का न कोई इतिहास बन पाया और न कोई कहानी ही रह गयी। खुर्रम, खुसरो, दाराशिकोह और अकबर इतिहास को करुणा के जैसे देखते हैं, क्योंकि इनका उत्तराधिकारी बनाया जाना उचित था और राज्य सिंहासन पर इनका बैठना न्यायपूर्ण था, लेकिन ऐसा हो नहीं पाया। इसलिए इतिहास ने अपने पृष्ठों में इनको खास जगह नहीं दी, मगर इनकी कहानी मानवीय संवेदनाओं को उभारती है और भले-बुरे के विचार से अनुचित की दृष्टि से आपराधिक भावनाओं को नन्दय से धिक्कारती है।



फरीद एक आम आदमी जो आवाम बन गया

आम आदमी खास आदमी बन कर भी जब आदमी ही बना रहे तो वह आवाम हो जाता है। राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू और प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री ऐसे ही आम आदमी थे। खास आदमी आम आदमी बन कर देवता हो जाता है, जैसे महात्मा गाँधी और नेता सुभाष चन्द्र बसु। आम आदमी बाढ़ में डूबता है, खास आदमी हेलीकाप्टर से बाढ़ क्षेत्र का आकाशीय निरीक्षण करता है और निरीक्षणोपरान्त ऊँची मैदानी जमीन पर ऊँचे मन्च से भाषण के दौरान बाढ़ पीड़ितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति व्यक्त करते हुए राहत देने की घोषणा करता है। आम जिन्दगी के सुख-दुख का अनुभव आम आदमी ही कर सकता है। खास आदमी उसकी कल्पना करता है। आम आदमी जब अपने अभावों से जूझता रहता है तो खास आदमी उसे अपने कैमरा और टेपरेकार्डर की सामग्री बनाते हुए उसके बीच पदयात्रा करता है, आम और खास के बीच की गहरी खाई को वोट के बोरों से पाटने की कोशिश करता है। आम आदमी विषपायी है और खास आदमी मधुपायी।

एक ऐसा ही आम आदमी लेखनी की दृष्टि-विन्दु में स्थिर हो गया है, जो खास होकर खुद आवाम हो गया है। उस आदमी का नाम है फरीद, जो इतिहास में शेरशाह सूरी के नाम से मशहूर है। उसने विदेशी ताकत-मुगल बादशाह को हिन्दुस्तान से उखाड़ फेंका और उखड़ी हुई अफगान सत्ता को फिर से कायम किया। उसने ऐसी शासन व्यवस्था चलाई, जिससे आम आदमी का जीवन सुखी हो गया। जनता सुख और चैन की वंशी बजाने लगी। मार-काट, खून-खराबा, लूट-पाट के दिन-रात की अराजक परिस्थितियों के बीच महज पाँच छःवर्षों की अपनी हुकूमत में ऐसी स्थायी क्रान्तिकारी योजना उसने कार्यान्वित की, जो उसके बाद के सम्राट अकबर के लिए ज्योति स्तम्भ बन गयी। उसने खूनी सैनिक शासन का दौर ही समाप्त कर दिया और वास्तविक लोक-हितकारी शासन व्यवस्था स्थापित की जिसके चलते नूतन कल्याणकारी निर्माणों से देश भर गया। निरंकुश धर्मोन्मादग्रस्त काल में भी उसने हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव मिटाया तथा साधु-सन्तों, विद्वानों का आदर करते हुए शान्ति और सुरक्षा की स्थायी व्यवस्था की। शेरशाह ने युग की धारा मोड़ दी। उसकी सफलताएँ और उपलब्धियाँ इस बात का प्रमाण हैं। यदि वह आम आदमी न रहा होता तो आम आदमी को सुखी बनाने की सूझ-बूझ उसमें होती ही नहीं। ऐशो-आराम में पला हुआ खास आदमी ऊँची जगहों पर जाकर और ज्यादा आराम पसन्द हो जाता है और अपने ही चश्में से आम आदमी को भी देखता है।

फरीद के बाबा का नाम इब्राहिम खाँ सूर था, जो अफगानिस्तान का निवासी था। रोहरी नामक गाँव में रहता था। साधरण तबके का आदमी था। लोदी वंश के शासक बहलोल लोदी के समय इब्राहिम खाँ अपने पुत्र हसन खाँ के साथ हिन्दुस्तान चला आया और बाजवाड़ा में बस गया। बाद में तरक्की करके वह नरमौल के परगने में कई गाँवों का जागीरदार बन गया। हसन खाँ को बिहार में साहाबाद परगने के कई गाँवों की जागीरदारी मिल गयी। सिकन्दर लोदी के जमाने में उसे सहसराम और हाजीपुर की भी जागीरदारी मिली। जौनपुर का हाकिम जमाल खाँ हसन खाँ को बहुत मानता था। अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त हसन खाँ उसकी जागीर का भी स्वामी हो गया। हसन खाँ के आठ लड़के थे। पहली स्त्री से फरीद खाँ और निजाम शेष दूसरी स्त्री से थे। हसन खाँ अपनी दूसरी स्त्री पर लट्टू था। उसकी स्त्री अपने सौतेले लड़कों से नफरत करती थी। इसलिए फरीद और निजाम खाँ की हालत बड़ी खस्ता थी। हसन खाँ और फरीद में बहुत मनोमालिन्य रहा करता था। घर के किच-किच से ऊब कर फरीद जौनपुर में रिश्तेदारी में रहने लगा। यहाँ 3 वर्षों तक वह अध्ययन के द्वारा आत्मविकास करता रहा।



जौनपुर शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र था। फरीद ने इसका लाभ उठाया। शाहनामा, बोस्तॉ, गुलिस्तॉ उसे कण्ठस्थ हो गया था। दार्शनिक ग्रन्थों का भी उसने अध्ययन किया। उसकी मेधा शक्ति और प्रतिभा से उसके रिश्तेदार बहुत खुश रहा करते थे। उन्होंने हसन खाँ और फरीद में समझा बुझाकर मेल करा दिया। हसन खाँ ने फरीद को सहसराय ख्वासपुर की जागीर का प्रबन्ध दे दिया।

फरीद का जन्म सन् 1486 में हुआ था। सहसराय और ख्वासपुर जागीर की देख-भाल उसने 21 वर्षों तक बड़ी सफलता और योग्यता से किया। उसे जो यहाँ अनुभव हुआ बहुत काम का आगे चलकर साबित हुआ और दिल्ली सम्राट बन कर वह हिन्दुस्तान का शासक बना। ख्वासपुर की जागीरदारी का इन्तजाम हाथ में लेते ही उसने अपने पिता से अपनी हुकूमत में दखलन्दाजी न करने की शर्तें मनवा ली थी। उसकी कामयाबी और उसके प्रभाव को देखकर उसकी सौतेली माँ इर्ष्याग्नि में जलने लगी। उसने हसन खाँ के कान भरने शुरू किये। लेहाजा फरीद को जागीरदारी छोड़नी पड़ी और वह अपनी तकदीर आजमाने के लिए फिर घर छोड़ कर दर-दर भटकने को बाध्य हुआ। ख्वासपुर की जागीर पुनः पाने की उसने बड़ी कोशिश की। दिल्ली सुल्तान इब्राहीम लोदी तक वह पहुँचा। वह कामयाब भी हुआ मगर उसके पिता के मर जाने के कारण उसका सौतेला भाई सुलेमान उस जागीर का दावेदार बन बैठा। हार कर फरीद ने बिहार के शासक बहार खाँ के यहाँ नौकरी कर ली। बहार खाँ ने बिहार में स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था और अपना नाम सुल्तान मुहम्मद नूहानी रख लिया था। फरीद के जीवन संघर्षों का यह पहला अध्याय है।

नूहानी दरबार में शहजादा जलालुद्दीन नूहानी का वह शिक्षक यानी ट्यूटर बन गया। वह स्वामिभक्त सेवक था। शिकार खेलते समय उसके स्वामी सुल्तान मुहम्मद नूहानी पर शेर ने आक्रमण कर दिया, जिसको अपनी तलवार से एक ही वार में उसने मार गिराया, जिससे खुश होकर उसके स्वामी ने उसे शेर खाँ की उपाधि दी। वह अपने स्वामी का मुख्य परामर्शदाता भी बन गया था। दरबार में उसका प्रभुत्व बढ़ने लगा। सुल्तान के कान भरे जाने लगे। उसके खिलाफ षड़यन्त्र होने लगे। जिस-किसी तरह उसने यहाँ दो वर्ष काटे। इस बीच ख्वासपुर की जागीर के लिए उसने फिर कोशिश की, मगर उसे सफलता नहीं मिली। जौनपुर पर अब मुगलों का शासन था। जौनपुर के मुगल गवर्नर की सहायता से वह मुगलों के सम्पर्क में आ गया और उन्हीं की सहायता से उसने अपने पिता की जागीर प्राप्त कर ली। परन्तु अफगान सरदार ने उसे मुगल शासन व्यवस्था और उनके तौर-तरीकों को करीब से देखने और समझने के लिए बाबर के दरबार में आगरे भेजा। वह बाबर से नूहानी राज्य पर कब्जा करने में मदद की भी उम्मीद रखता था। बाबर उससे बहुत प्रभावित था और उसने उसे अपनी सेवा में नियुक्त भी कर लिया किन्तु एक दिन वह शेर खाँ के रूप-रंग-लक्षण देखकर ताड़ गया कि वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। इसके माथे पर राजतिलक का चिन्ह है। उसने अपने सरदारों को शेर खाँ पर चौकसी रखने का आदेश दिया जिसको भाँप कर शेर खाँ बाबरी दरबार से भाग खड़ा हुआ। वह पुनः बिहार में नूहानी सुल्तान की सेवा में दाखिल हो गया था। सुल्तान मुहम्मद नूहानी की मृत्यु हो चुकी थी। शहजादा जलालुद्दीन अभी वयस्क नहीं हो पाया था। उसकी माँ संरक्षिका बनकर राज-काज का संचालन कर रही थी और उसके इस कार्य में शेर खाँ उसकी मदद करता रहा। शेर खाँ की ताकत पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गयी थी। शहजादे की माँ की भी शीघ्र ही मृत्यु हो गयी और अब शेर खाँ पर ही पूरी जिम्मेदारी हुकूमत की आ गयी और अब शेर खाँ के जीवन संघर्षों का यह दूसरा दौर था। भाग्य चक्र में उलझा शेर खाँ अपने वास्तविक अस्तित्व को ढूढ़ रहा था।



शेर ख़ाँ का अब तक जीवन वृत्तान्त बतलाता है कि वह एक साधारण व्यक्ति की भाँति जीविकोपार्जन के चक्कर में है। इस चक्कर में वह बाबर के दरबार से भी उसी तरह लौट आया अपनी जान बचाकर जिस तरह चन्द्रगुप्त और चाणक्य सिकन्दर के खेमों से अथवा शिवाजी औरंगजेब के चंगुल से किसी तरह बचकर निकल आये थे। शेर ख़ाँ के सौतेले भाई और उसकी सौतली माँ उसे घर में चैन से रहने नहीं देती थी। सहसराय और खवासपुर की जागीरदारी का प्रबन्ध करते समय उसने आम आदमी की रोजमर्रा की जिन्दगी से तादात्म्य कर लिया था और उनको हर तरह से सुखी बनाने के कार्य में पूर्ण सफल था। और अपनी ताकत बढ़ाना चाहता था। बिहार में नूहानी दरबार की सेवा में वह दिलोजान से लगा रहना चाहता था मगर यहाँ भी डाही दरबारी उसकी जान के पीछे पड़े रहते थे। सुल्तान जलालुद्दीन की संरक्षिका उसकी माँ की मृत्यु के उपरान्त शेरख़ाँ की कठिनाइयाँ और बढ़ गयी क्योंकि जलालुद्दीन के बहुतेरे हितैषी पैदा हो गये। खुद जलालुद्दीन भी किसी प्रकार का संरक्षण नहीं चाहता था। वह स्वतन्त्र होकर शासन करने के लिए व्यग्र था। सबका लक्ष्य एक ही था शेरख़ाँ। मजबूर होकर शेर ख़ाँ को अपनी भी ताकत सम्भालनी पड़ी। जलालुद्दीन और उसके सहायक अमीरों ने बंगाल के शासक नसरत शाह नूहानी की मदद से शेरख़ाँ को पस्त करना चाहा मगर शेरख़ाँ ने सबको हराया और धीरे धीरे वह एक असरदार अमीर बन गया। सन् 1530 में उसने चुनार पर कब्जा कर लिया जहाँ उसे अटूट सम्पत्ति मिली। बिहार, बंगाल से उसे एक बार और लड़ना पड़ा सूरजगढ़ के मैदान में, जिसमें उसकी जीत हुई और वह खुद बिहार का शासक हुआ। बंगाल पर शेरख़ाँ ने इसके बाद ही चढ़ाई कर दी और गौड़ पर भी कब्जा कर लिया।

शेरख़ाँ के दिन बदलने लगे। उसकी अन्दरूनी ताकत अब खुल कर खेलने लगी। दिल्ली के तख्त पर इस समय बाबर का पुत्र हुमायूँ था और शेरख़ाँ की उसी से टक्कर शेष रह गयी थी।

गुजरात के शासक बहादुर शाह से निपट कर हुमायूँ बादशाह ने शेरख़ाँ की ओर ध्यान दिया। बंगाल के शासक नसरत शाह नूहानी पुत्र सुल्तान महमूद नूहानी ने हुमायूँ से सहायता माँगी शेरख़ाँ के खिलाफ। इस समय हुमायूँ बनारस में खेमा डाले था। शेरख़ाँ उससे मिल चुका था और बात बहुत कुछ अनुकूल हो चुकी थी, मगर बंगाल के सुल्तान महमूद नूहानी के भड़काने से हुमायूँ शेरख़ाँ के विरुद्ध सेना लेकर गौड़ जा पहुँचा महमूद नूहानी के मदद में। शेर ख़ाँ कोई प्रतिरोध नहीं किया।

बंगाल में हुमायूँ ने कुछ महीने नाच-रंग ऐशो-आराम में बिताये तब तक शेरख़ाँ ने गौड़ की कमी चुनार, वाराणसी, जौनपुर, आगरा वगैरह जीत कर पूरी कर ली और हुमायूँ के बंगाल से उतरने का इन्तजार करने लगा। हुमायूँ को जब ये सारी बातें मालूम हुई तो उसके कान खड़े हो गये। उसे लौटना था बिहार के ही रास्ते से। बक्सर में शेरख़ाँ ने उसे घेर लिया। यहाँ हुमायूँ बुरी तरह हार गया। गंगा में डूब कर मर जाने से बच गया एक भिस्ती की मदद से। यहाँ से भागता फिरा हुमायूँ। उसे चौसा और कन्नौज के युद्ध में शेरख़ाँ ने पूर्ण रूप से परास्त कर दिया और हिन्दुस्तान से उसे बाहर खदेड़ दिया। दिल्ली के सिंहासन पर सन् 1540 में सम्राट शेरशाह सूरी के नाम से वह आसीन हो गया। फरीद अब शेरशाह सूरी हो गया। यह कोई खास बात नहीं है। दिलचस्प बात यह है कि खोई हुई अफगान सत्ता को एक मामूली से आदमी, फरीद ने किस कौशल और वीरता से पलटा लिया, जैसे कि किसी अपहरणकर्त्ता से कोई अपना धन छीन ले। विदेशी ताकत को देशी ताकत ने घर के भीतर से निकाल बाहर किया, यह कम जवाँमर्दी की बात नहीं है। जवाँमर्दी तो हेमू सरदार ने भी दिखालाई थी, दिल्ली पर पुनः अधिकार करके मगर उसके बाद ही सन् 1556 में पानीपत के दूसरे युद्ध में गर्व से चूर होने के कारण हार कर



अपने सारे कारनामों पर उसने पानी फेर दिया। वह मार भी डाला गया और इस प्रकार तवारीख के पन्नों में से भकजोगनी की तरह एक बार चमक कर विलुप्त हो गया। मगर शेरशाह ने अपनी थोड़ी सी जिन्दगी में केवल यही कमाल नहीं किया कि विदेशियों को देश से बाहर खेदड़कर वह स्वयं सम्राट हो गया, बल्कि यह कि सम्राट हो कर इस साधारण व्यक्ति ने सर्वसाधारण के लिए जो शासन व्यवस्था स्थापित की और जो निर्माण कार्य किये वह तवारीख में एक नजीर बन गयी और वह भी केवल अपनी 5/6 वर्ष की शासकीय जिन्दगी में ही क्योंकि शेरशाह सन् 1545 में कालिंजर के ऊपर की गई चढ़ाई में दुर्घटना का शिकार हो कर मर गया। मगर मरते मरते भी उसने समाचार सुन ही लिया कि कालिंजर के किले पर उसका कब्जा हो गया। आम आदमी की ताकत का अन्दाज नहीं लगाया जा सकता है। आम आदमी जब आवाम के हित में खड़ा होता है और आवाम जब उसका साथ देने लग जाए तब वहीं आदमी खास होता है और तवारीख का विषय बन जाता है।

शेरशाह जमाने से आगे था, मगर कल बल में और कूटनीति में भी अपने जमाने से पीछे नहीं था। सम्राट होने पर उसने अनेक विजय हासिल की जैसे मालवा, रणथम्भौर, ग्वालियर, रायसीन, सिन्धु, मुल्तान, मारवाड़, चित्तौड़ और कालिंजर। सन् 1540 से 1545 तक वह सम्राट के रूप में शासन कर पाया था। इतने कम समय में विजय विस्तार की दृष्टि से अथवा नूतन निर्माण और शासन व्यवस्था तथा पश्चिमोत्तर सीमा की सुरक्षा व्यवस्था की दृष्टि से उसे चमत्कारिक सफलता प्राप्त हुई। इतिहास में उसका स्थान चन्द्रगुप्त, अशोक, सीजर, हेनरी द्वितीय, एडवर्ड प्रथम, लूई चौदहवें की कोटि में माना जाता है। शासन प्रबन्ध के ज्ञान क्रियात्मक राजनीतिज्ञता, कर्तव्यपरायणता, परिश्रमशीलता, न्यायप्रियता, अनुशासनपालन एवं चारित्रिक गुणों ने वह अकबर से भी श्रेष्ठ स्वीकार किया जाता है। चाहे मनुष्य के रूप में, चाहे निर्माता के रूप में, चाहे संस्थाओं के निर्माता के रूप में अथवा चाहे राजनीतिज्ञ के रूप में शेरशाह अपने पूर्ववर्ती या उत्तरवर्ती शासकों से ऊपर उठा रहता है। भारत के ही इतिहास में नहीं विश्व के इतिहास में उसका उच्च स्थान है।

प्रकृति गुण दोष मय होती है। ऐसा नहीं कि शेरशाह में गुण ही गुण थे, उसमें दोष नहीं थे। चुनार पर अधिकार करने में उसने राजनीति मत्ता में ही काम लिया, उचित-अनुचित पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। स्पर्धा के दौड़ में आगे बढ़ने के लिए सब प्रकार का बल लगाया जाता है। शेरशाह इस विद्या में बहुत पटु था। वादा करना स्वार्थ की दृष्टि से उतना ही व्यावहारिक होता है जितना स्वार्थ की दृष्टि से वादा तोड़ना। जब हुमायूँ वादा करके मुकर गया और गौड़ पर उसने चढ़ाई कर दी तो शेरशाह ने भी चुनार पर पुनः कब्जा कर दिखलाया और उत्तरी भारत को उसने रौंद डाला। जब बिहार का शासक जलालुद्दीन नूहानी अमीरों के कहने में आकर उसकी खिलाफत करने लगे तो उसने भी अपनी ताकत का इस्तेमाल कर न केवल बिहार बल्कि बंगाल पर भी कब्जा कर लिया। सम्राट होने पर रायसिन के राजा पूरन मल्ल के साथ उसने वाकई ज्यादाती की थी और विश्वासघात भी किया था जिसको नैतिकता कभी क्षमा नहीं कर सकती। राजनीति में विश्वासघात कुछ अर्थ नहीं रखता है बल्कि इसी का दूसरा नाम चालबाजी या चतुराई है। कहीं कहीं यह चतुराई जँचती है और कहीं-कहीं अखरती है। पूरनमल के मामले में यह अखरने वाली बात है। शेरशाह पर साम्प्रदायिकता का इल्जाम इस प्रसंग में लगाया जाता है लेकिन वह धर्म के मामले में निरपेक्ष रहता था उसकी प्रकृति साम्प्रदायिक नहीं थी। वह नमाजी था। धार्मिक विचार का आदमी था। सभी धर्मों का आदर करता था। पूरनमल पर उसकी कार्यवाही धर्म प्रेरित नहीं राजनीति प्रेरित थी। राजनीति में ऐसा होता है। इसी का नाम भी राजनीति है। नैतिकता की बलि देकर राजनीति का लाभ उठाना कायरता है।



राजनीति में इसी कायरता को शक्ति कहते हैं। मारवाड़ के राजा मालदेव के साथ भी उसने युद्ध के मैदान में एक चाल चली थी, जो कारगर हो गई। ठीक यही चाल औरंगजेब ने भी राजपूतों के खिलाफ जंगे मैदान में चली थी जब कि शहजादा अकबर उनसे जा मिला था, जिसकी बड़ी तारीफ की गई है तवारीख में। शेरशाह सब तरह की नीति अपनाता था।

चूंकि शेरशाह ने आवाम् के हक में हुकूमत चलाई इसलिए उसे आवाम् का नुमाइन्दा कहा जा सकता है। एक परिवार का मालिक जिस प्रकार अपने परिवार की देखभाल करता है। उसी प्रकार शेरशाह ने जब उसका नाम फरीद खाँ था सहसराय और खवासपुर की जागीर का इन्तजाम किया और अपनी रियाया की सुख सुबिध का हमेशा ख्याल किया। यह काम उसने 21 वर्षों तक किया। अपनी सौतेली माँ की जलन के कारण उसे इस कार्य से हटना पड़ा और अपने भाग्य की आजमाईश के लिए आत्मबल का सहारा लेना पड़ा। दिल्ली सम्राट बन जाने पर यद्यपि उसने पाँच ही वर्ष शासन किया, मगर इतनी कम अवधि में ही खवासपुर जागीर ने किये गये अपने सफल प्रयोग को अपने पूरे साम्राज्य में बड़े पैमाने पर अपनी प्रजा के कल्याण के लिए कार्यान्वित किया। अब्राहम लिंकन ने गुलामों की बिक्री बाजार में देख कर प्रण किया था कि जब भी मुझे मौका मिलेगा मैं इस गलत प्रथा को जड़ से उखाड़ फेकूँगा। जब वह अमेरिका का राष्ट्रपति बना उसने अपना संकल्प पूरा किया यद्यपि इसके लिए अमेरिका को चार वर्ष तक गृह युद्ध की आग में सुलगना पड़ा। अब्राहम लिंकन जनता का आदमी था। उसने जन कल्याण के लिए राष्ट्रपति पद स्वीकार किया था। इस तरह शेरशाह ने भी जनता के हित में शासन किया।

शेरशाह के शासन का सिद्धान्त था, राज्य की एकता, प्रजा पालन, सहिष्णुता, सेवा का भाव, न्याय का आधार उदारता, कर्मचारियों पर नियन्त्रण तथा उनके चरित्र की पवित्रता, आय का सदुपयोग, जमींदारों पर नियन्त्रण, शान्ति तथा सुव्यवस्था, प्रगतिशीलता, प्रजा तथा शासक से निकटतम सम्बन्ध की स्थापना, कृषि की उन्नति, कर्तव्यपरायणता एवं परिश्रमशीलता। सीमा को सुदृढ़ बनाना, अफगानों को संगठित करना तथा जनसाधारण की शान्ति और सुख सुविधा की व्यवस्था करना उसके शासन का उद्देश्य था, जिसके लिए वह नित्य 18 घण्टे तक अथक परिश्रम करता था। शासन के प्रत्येक विभाग पर वह स्वयं ध्यान देता था। अपनी कृषि व्यवस्था के लिए शेरशाह विशेष रूप से प्रशंसित है। अब तक के मुसलमान शासक अपने को भूमि का एकाधिकारी मानते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण उपज को वे अपना मानते और किसानों को मजदूर की तरह थोड़ा बहुत अनाज बतौर मजदूरी के दे दिया करते थे। शेर शाह ने जमीन की पैमाइश कराई। गज सिकन्दरी का उसने इस्तेमाल किया। भूमि के नाप में इसने रस्सी का प्रयोग किया और सभी जमीन बीघा, विस्वा में विभक्त कर दी गई। पैमाइश के बाद उपज का अन्दाज लगा कर उसका चतुर्थांश लगान के रूप में नगद अथवा अनाज किसान से वसूल किया जाने लगा। काबुलियत और पट्टे का भी नियम लागू किया जाने लगा जो सरकार और किसान के बीच एक तरह का इकरारनामा होता था। इसमें खेत की पूरी तफसिल का हवाला होता था, जिसकी एक प्रति किसान के पास और एक प्रति सरकार के पास सुरक्षित कर दी जाती थी। इससे किसान को यकीन हो जाता था कि जमीन पर उसका हक है और सरकार को उसे केवल लगान देनी है। लगान सीधे खजाने में जमा होती थी ताकी मुकदमा और मुखिया के आतंक से किसानों की रक्षा हो सके। ऐसी व्यवस्था वही शासक कर सकता है जिसको किसानों के दुःख-दर्द का जातीय तर्जुबा हो। इसलिए यह बार बार कहा जा रहा है कि शेरशाह आवाम् का आदमी था और कोई बाहरी खास बड़ा आदमी नहीं था। उसी आवाम् में से वह एक आम आदमी था।



सैन्य संचालन के समय सैनिकों को यह खास हिदायत दी जाती थी कि मार्च करते समय एक भी फसल को नुकसान न होने पाए। यदि किसी सैनिक से यह गलती हो जाती थी तो उसको उसी स्थान पर सजा दी जाती थी। उसके गले में नुकसान फसल एकट्ठा करके बाँध दी जाती थी और उसे पूरी सेना के सामने घुमाया जाता था ताकि वह शर्मिन्दा हो और फिर ऐसी गलती न करे जो सैनिक देखते रहें उन्हें भी फिक्र हो कि हमें ऐसा काम नहीं करना चाहिए। शेरशाह को सैनिक व्यवस्था करते समय भी आम जनता के सुख दुख का ध्यान बना रहता था। किसी बाहरी खास बड़े आदमी को यह चिन्ता मात्र क्यों सताए।

पुलिस विभाग का स्थानीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर उसने संगठन किया था। स्थानीय उत्तरदायित्व का भार मुखिया और मुकद्दम पर होता था जिनकी सहायता के लिए पुलिस का प्रबन्ध था। पुलिस विभाग की सहायता के लिए मोहतसिम की नियुक्ति की जाती थी जिसके ऊपर पुलिस को चरित्रवान बनाने की जिम्मेदारी होती थी। गुप्तचर विभाग का संगठन षडयन्त्र और अपराधों का पता लगाने के लिए होता था। शासन बहुत चुस्ती के साथ होता था। हर कर्मचारी कर्तव्यपरायण एवं ईमानदार होने के लिए मजबूर था। विश्वस्त तथा वफादार गुप्तचर समुदाय सदा भ्रमणशील होकर सभी पदाधिकारियों की गतिविधि का निरीक्षण करता था और अपनी रपट सरकार को देता था। यह युग ही षडयन्त्र और अपराध का था। शेरशाह को अपनी आम जिन्दगी में इसका अनुभव अनेक बार हुआ था। अतएव गुप्तचर विभाग का संगठन उसने बहुत उत्तम ढंग से किया था। सबसे बढ़कर उत्तम बात यह थी कि वह खुद ही शासन के प्रत्येक विभाग का निरीक्षण बड़ी मुस्तैदी से करता था जिसके फल स्वरूप जनता के जान-माल की निश्चिन्ता थी। मरुभूमि और निर्जन प्रदेश में भी लोग निश्चिन्त शयन करते थे। भूमिपति लोग तथा जमीनदार और जागीरदार लोग स्वयं चोर डाकुओं से रक्षा किया करते थे। इतिहासकार अब्बास खाँ शेरवानी ने लिखा है कि जिस दिन शेरशाह सिंहासन पर बैठा उस दिन से किसी को भी विरोध करने की हिम्मत नहीं हुई और न किसी ने विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। शान्ति और सुव्यवस्था की प्रशंसा करते हुए उसने लिखा कि एक वृद्धा स्त्री भी टोकरी में सोने का आभूषण भरकर यात्रा के लिये जा सकती थी और शेरशाह के दण्ड के भय से कोई चोर या डाकू उसके निकट नहीं आ सकता था।

अति बुद्धिवादी स्वयं शेरशाह को आतंकवादी कह सकते हैं कि उसने भय और आतंक से जो शान्ति स्थापित की थी, उसे वास्तविक शान्ति नहीं कहा जा सकता है। इस विचार के अनुसार राम भी आतंकवादी माने जा सकते हैं। क्योंकि उनका वसूल ही यही था कि जो खल दण्ड करें नहीं तोरा, भ्रष्ट होय श्रुति मारग मोरा। उनके विचार से राम द्वारा स्थापित रामराज्य भी आतंकवाद एवं सामन्तवादी तानाशाही व्यवस्था थी। इतिहास की भी यही पीड़ा है कि वह कौन सा पंथ है जिसके द्वारा आतंकवाद एवं अराजकता को हटाकर शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना की जाय जब कि महात्मा गाँधी के सत्य के प्रयोग तथा अहिंसा का सिद्धान्त भी पलटकर उन्हीं की हत्या कर बैठा। क्या शासन बिना दण्डनीति के सम्भव है।

सार्वजनिक हित के निर्माण कार्य ज्यादा कम सभी शासकों के शासन काल में हुए हैं। आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं के स्वतन्त्र गणतन्त्रात्मक भारतवर्ष में भी निर्माण कार्यक्रम सन्तोषजनक नहीं है। यह बात दूसरी है कि आधुनिक निर्माण कार्य पर दबंग ठीकेदारों को एकाधिकार जैसे है जो उनके खाने-पीने, ऐसो-आराम के साधन से हो गए हैं। पुलिया बनी नहीं कि टूटी, इमारत खड़ी हुई नहीं कि गिरी। यह आम बात है और यह बात देश की प्रकृति बन चुकी है। यही सहज स्वाभाविक एवं सरल मार्ग भी बन गया है जीने का। लोग मरें, निर्माण ध्वस्त हो मगर जीवन कहीं पनपे विकसे फले और फूले। खुद निर्माण विभाग भी निश्चिन्त रहता



है। उसे भी तो विकसित होते रहना है। किन्तु आश्चर्य उस निर्माण कार्य पर तब होता है जब हम यह देखते हैं कि पाँच ही वर्ष की अत्यन्त सीमित अवधि में शेरशाह ने निर्माण के इतने कार्य किये जो आज भी वर्तमान है और युग जमाना की सेवा में रत है। पाँच/छः वर्ष की ही सीमित अवधि में विवेकानन्द ने अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रामकृष्ण मिशन की इतनी संस्थाएँ खड़ी कर लीं, जिससे मानवता की सेवा अबतक होती आई है और आगे भी होती रहेगी। जिसमें निर्माण कार्य करने की धुन और लगन होती है उसको कोई बाधा रोक नहीं सकती।

शेरशाह ने यातायात की भी व्यवस्था की और इसलिए उसने सड़कें बनवाईं जिनमें एक है वर्तमान गैण्ड ट्रंक रोड, जो बंगाल से सिन्ध तक जाने के लिए थी। दूसरी सड़क उसने बनवाई वह जो आगरे से बुरतानपुर तक जाती थी। तीसरी सड़क आगरे से बियाना होती हुई मारवाड़ तक जाती थी और चौथी सड़क थी जो मुल्तान से लाहौर जाती थी। सड़कों के किनारे उसने छायादार पेड़ लगवाये और दो दो कोस पर सराये बनवाईं। उसकी बनवाई हुई सरायों की कुल संख्या 1700 है। प्रत्येक सराय में शीतल जल की व्यवस्था थी। हिन्दुओं के लिए सराय में ब्राह्मण तैनात थे और मुसलमानों के लिए मुसलमान जो अभ्यागतों की सामयिक और उचित सेवा करते थे। पद के मुताबिक भोजन तथा विस्तर का और घोड़ों के लिए दाना का भी प्रत्येक सराय में इन्तजाम था। सरायों के चारो ओर गाँव बसाये गए थे जो आगे चलकर विकसित होकर शहर बन गए। प्रत्येक सराय में उसके मध्य में पक्का कुआँ होता था और एक मस्जिद होती थी जिसमें ईमाम मुअज्जिम शाहन्न और कई चौकीदार रहते थे। प्रत्येक सराय में एक सराय से दूसरे सराय तक डाक ले जाने के लिए घोड़े रखे जाते थे। साम्राज्य भर की खबरें सरायों के जरिये शेरशाह के पास नियमित रूप से पहुँच जाया करती थीं। इतिहासकार कानूनगो कालिका चरण का कथन है कि सरायें साम्राज्य भर की धमनियाँ थीं, जिनके द्वारा शिथिल साम्राज्य में रक्तसंचार होता था। सरायों के आस पास मण्डियाँ बन गयीं और बाजार लगने लगे। सराय व्यापार का केन्द्र हो गये। सरायों में मकतब और पाठशालायें भी होते थे। सराये डाक चउकी का काम करती थी। दूरस्थ स्थानों की डाक घोड़े और समीप के स्थानों के लिए पैदल डाक ढोते रहते थे। पथिकों और व्यापारियों के साथ अच्छा व्यवहार करने का सब गर्वनरों को आदेश था। शेरशाह ने सीमाओं पर अथवा साम्राज्य के भीतर अनेक सैनिक महत्व के स्थानों पर दुर्ग बनवाये थे। शेरशाह ने कभी कहा था कि यदि मैं अधिक दिनों तक जीवित रहा तो प्रत्येक सरकार में (जिले में) एक-एक दुर्ग बनवाऊँगा, जहाँ पीड़ित लोग शरण पा सके। कितने अफसोस की बात है कि शेरशाह को सम्राट के रूप में मात्र पाँच ही वर्ष की शासनावधि नियति ने दी थी वरना लोकहितकारी एवं जनकल्याणकारी कार्यों से उसने देश को परिपूर्ण कर दिया होता।

शेरशाह को उच्चकोटि का वात्सल्य प्यार दुलार नहीं मिला था। सौतेली माता के कोप का भाजन पिता से उपेक्षित फरीद अपने जीवन निर्वाह के साधनों की खोज में दर-दर भटकता फिरा। कभी जौनपुर में रिश्तेदारों के यहाँ, कभी बिहार के नूहानी सुल्तानों के शहजादे की ट्यूशनी, कभी बाबर के दरबार में भाग्य ढूँढने की कोशिश, कभी खवासपुर की जागीर के इन्तजाम कर्त्ता के रूप में, फिर नूहानी सुल्तान के दरबार में सेवाकार्य और अन्य सरदारों से अनबन और बिहार बंगाल के सुल्तानों की सम्मिलित सेना के साथ भाग्य निर्णय का निर्णायक खेल आदि उसके जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाये थी, जिनमें सिवा उसके आत्मबल के और कोई दूसरा चारा नहीं था। पटना की भीड़भरी सड़क पर एक ज्योतिषी ने उसे राह चलते रोक कर कहा था कि तुम भविष्य में भारत के सम्राट बनोगे। बाबर ने उसे देखते ही पहचान लिया था कि यह कोई साधारण अफगान युवक नहीं है। यह तो भारत का भावी सम्राट है। उसने शेर खँ



को गिरफ्तार करना चाहा, मगर वह सफलतापूर्वक वहाँ से भाग खड़ा हुआ और कुछ ही वर्षों बाद इसी शेर खाँ ने बाबर के लायक बेटे सम्राट हुमायूँ को दिल्ली के राज सिंहासन से उतार कर भारतवर्ष से बाहर खदेड़ दिया और ऐसी आदर्श शासन व्यवस्था कायम की जो उसके होने वाले मुगल सम्राट अकबर के लिए सबल और ठोस आधार साबित हुई। शेरशाह के सपनों को सम्राट अकबर ने अपने दीर्घकालीन शासनावधि में रंग डाला। जनहितकारी कल्याणकारी शासन व्यवस्था शेरशाह की देन है। अकबर उसका अनुसरणकर्ता प्रतीत होता है। शेरशाह के पहले तुर्कों और अफगानों ने सैनिक व्यवस्था कायम की थी किन्तु शेरशाह ने और बाद में अकबर ने सैनिक व्यवस्था हटाकर लौकिक और जनहित की शासन व्यवस्था स्थापित की। इतिहास को शेरशाह की यही अविस्मरणीय देन है। ठोकरों ने शेरशाह को रास्ते पर चलना सिखाया था। ठोकरों ने ही उसकी रहनुमाई की। शेरशाह एक शानदार मुसाफिर साबित हुआ। अपने जीवन के सम्पूर्ण अभावों को उसने जनता जनार्दन की सेवा में पूरा किया। यही आम आदमी के आवाम का आदमी बन जाने का रहस्य है।

एक अच्छी बात को जितनी बार याद किया जाय बहुत अच्छा है क्यों कि इससे खुद अच्छा बनने में बड़ी मदद मिलती है। बहुत से लोग शेरशाह के नाम से नाक भौं सिकोड़ सकते हैं। मगर इससे कोई फायदा नहीं है। इससे अच्छा बदल कर बुरा नहीं हो सकता क्यों कि अच्छा अच्छा होता है और बुरा बुरा होता है। अच्छे बुरों को भी अच्छा समझते हैं और बुरे अच्छों को भी बुरा समझते हैं। यह फर्क कुदरती है। इसका ख्याल न करके आदमी को हमेशा अच्छा करना चाहिये। कोई अच्छी बात पुरानी होने से खराब नहीं हो सकती। अच्छी चीज की सिफ्रत यही है कि वह हमेशा अच्छी रहेगी। अगर शेरशाह और अकबर ने जनता को सुखी बनाने की सच्ची कोशिश की तो क्या हम भी आज भारत की आम जनता को खुशहाल नहीं बनता देखना चाहते हैं ? बेहतर यही है कि सड़े-गले फटे-पुराने पन्ने को चिथड़े उड़े लिखे कागजों को सहेजने की आदत डालें, पुराने शिलालेखों को पढ़ने की कोशिश करें। इतिहास का आदर करें और उसके दर्द को समझें और मूल्यवान सम्पदाओं के अधिकारी बनकर अपने युग के इतिहास को गौरवान्वित करें।



सम्राट हुमायूँ : शक्ति थी, व्यक्तित्व था लेकिन.....

आत्मबल दुर्लभ गुण है। यह कभी परास्त नहीं होता है। यह बल, क्षीण होने पर आदमी जीती हुई बाजी हार जाता है। यह बल यदि अन्तिम साँस तक बना रहे तो आदमी हार कर भी विजयी माना जाता है। यही जीवन सौन्दर्य कहलाता है। सत्य का पक्ष हो या असत्य का प्रत्येक में परीक्षा आत्मबल की ही होती है। इसमें भेद की बात यह है कि जीवन के शुभ्र पक्ष की रक्षा सदैव सत्य से होती है। प्रकृति शाश्वत शुभ्र पक्ष का स्वरूप है। सृष्टिकर्ता अपनी रचना में शुभ्र पक्ष को ही उभारता है। सत्य असत्य की अवधारणा मानव में ही सम्भव है। जो सत्य के साथ होते हैं, वह प्रकृति एवं सृष्टिकर्ता के ब्रती होते हैं। जो असत्य के साथ होते हैं वे सृष्टि का विरोध करते हुये सृष्टि के कारणों पर पूरी शक्ति से प्रहार करते हैं। इस कार्य में भी उनका आत्मबल उनकी ओर से जी भर कर जूझता है यह जानते हुये भी कि उनका पक्ष दुर्बल है और अनुचित है। इसी हेतु उनका आत्मबल शनै-शनै घटता रहता है और सत्य पक्ष का आत्मबल वेग से बढ़ता रहता है। अन्त में सत्य की जीत होती है और असत्य की हार। सत्य की यदि जीत न हो तो प्रकृति का शुभ्र पक्ष नष्ट हो जायेगा। संघर्ष में सत्य की ही निर्णायक भूमिका होती है। इसमें देर भले हो अन्धे नहीं होता है। इसलिए सूत्र वाक्य में यह कहा गया है कि सत्यमेवजयते नानृतम। जो प्रकृति का विरोध नहीं करता है, उसका विश्वास सृष्टिकर्ता में अवश्य होता है। यही आस्तिकता कहलाती है। इसके विरुद्ध नास्तिकता प्रकृति विरोधी एवं सृष्टि विनाशक होती है जिससे सब घबराते हैं किन्तु लौकिकता एवं स्वार्थ में बँधे होने के कारण इसी का समर्थन करते हैं और जीवन संघर्ष को जटिल तथा उलझनग्रस्त बना डालते हैं। केवल अन्त में पछताने के लिए।

एक से एक वीर नायक योद्धाओं के वृत्तान्तों से इतिहास के पृष्ठ जगमगाते रहते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इतिहास का पृष्ठ नीलगगन का विस्तृत रूप है जिसमें नक्षत्र, ग्रह एवं तारों की भाँति ये वीर बाँकुड़े अपनी अपनी आन बान से चमक रहे हों। सबके आख्यान निराले हैं किन्तु बाबर और बाबर पुत्र हुमायूँ की आभा कुछ भिन्ना लिए एक अलग ही तेवर से देदीप्यमान है। कारण, जीवन पर्यन्त एक बड़े उद्देश्य को लेकर बाबर और हुमायूँ ने संघर्ष किया। कभी चैन की रोटी नहीं खायी ठोकरों में ही सारी जिन्दगी बितायी किन्तु उनका आत्मबल कभी मरा नहीं और वे इतिहास में अमर हो गए अपने अमर अभिजात अकबर को आशीर्वाद देकर क्यों कि उसी के पिण्डदान से इनकी आत्मा को तृप्ति मिलती। अकबर ने अपने बाबा और बाप का करजा पूरा पूरा चुका दिया। बाबर समरकन्द पर कब्जा न कर पाया तो क्या हुआ, हिन्दुस्तान में मुगल साम्राज्य का संस्थापक बन गया। हुमायूँ की मुट्ठी से उसके विरोधियों ने उसका साम्राज्य आखिर छीन ही लिया मगर हुमायूँ भी बाबर का बेटा था। उसने उचित समय पर अपने विरोधियों को परास्त कर खोया हुआ साम्राज्य फिर वापस ले लिया जो उसके मरते ही पुनः हाथ से निकलने की हालत में आ गया, मगर उसके लायक बेटे अकबर ने सन् 1556 ई. के पानीपत के द्वितीय युद्ध में अपने दुश्मन हेमू सरदार को हराकर पुनः अपनी मुट्ठी कस ली और एक शानदार शासन व्यवस्था की परम्परा कायम की जो कई पीढ़ियों तक चलती रही।

बहुतेरे इतिहासज्ञों की यह धारणा है कि हुमायूँ का जीवन असफल रहा और इतिहास में उसको उच्च स्थान नहीं दिया जा सकता। वे यह भी कहते हैं कि उसके चरित्र एवं कार्यों में विरोधाभास था। हुमायूँ के जीवन को संघर्षमय कह सकते हैं किन्तु असफल किसी भी हालत में नहीं कह सकते हैं। युद्ध में हार भी होती है जीत भी होती है। यदि संकल्प नहीं हारता है,



जीतता है तो न कोई हार होती है न कोई जीत। स्थायी हार या स्थायी जीत तो मनोबल के खण्डित या अखण्डित होने में होती है। यही कारण है कि बापू ने सत्याग्रह, सत्य और अहिंसा के द्वारा हृदय परिवर्तन का युद्ध छेड़ा था। यह सर्वथा नये तरह के युद्ध करने की शैली थी, जिसका सफल प्रयोग बापू ने दक्षिण अफ्रीका और भारत में किया था। बापू अपने ढंग के अनोखे वीर थे। राणा प्रताप भी तो हल्दीघाटी के युद्ध में पूर्ण परास्त होकर अरावली की पहाड़ियों में लुक छिपकर आत्मरक्षा करते रहे कि उन्हें भामाशाह मिल गए और उन्होंने अकबर को परास्त कर मेवाड़ जीत लिया। राणा प्रताप को इतिहास में ऊँचा स्थान दिया जाता है। हुमायूँ चौसा और कन्नौज का युद्ध हारकर वर्षों भारत में और भारत के बाहर भटकता फिरा। आखिर फारस के शाह की सहायता से पुनः युद्ध के द्वारा उसने खोया राज्य जीत लिया। इसलिए हुमायूँ के जीवन को असफल नहीं कहा जा सकता। कोई सर्वदा एक सी अवस्था में नहीं रहता। अच्छे बुरे अनुकूल प्रतिकूल दिनों का फेरा लगा रहता है, ताकि जीवन की जीवन्तता बनी रहे। एक ही अवस्था की स्थिरता क्या जड़ता नहीं कही जायेगी ? नायक वही है जो एक सद्प्रयास में बार-बार असफल होकर अन्तिम बाजी जीत लेता है। हुमायूँ ऐसा ही नायक था। उसमें शक्ति भरपूर थी। उसका व्यक्तित्व भी प्रभावशाली था। सेनापतित्व के सभी गुण उसमें भरे थे। चौसा के युद्ध में पहली बार वह हारा था। इसके पहले के सब अभियानों में वह विजयी हुआ था और सैन्य संचालन भी उसने ही किया था। अन्तिम बाजी भी उसी के हाथ रही फिर वह असफल कैसे है ?

हुमायूँ में बादशाहत के साथ इन्सानियत भी थी। बल्कि यह कहें तो ज्यादा सही होगा कि वह इन्सान पहले, बादशाह बाद में था। अगर यह बात न होती तो गद्दार दगाबाज और मक्कार सगे भाइयों के प्रति भी वह जीवनभर भ्रातृत्व सम्बन्धों का निर्वाह क्यों करता रहता ? उसको हराने वाले तो उसके भाई ही थे मगर अपने पिता की आज्ञा मानकर हुमायूँ ने अपने भाइयों को कभी सताया नहीं, जब कि भाई लोग उसके दुश्मन शेर खाँ से भी मिल गए थे। हुमायूँ के भारत से बाहर बचकर निकल भागने के मार्ग में भी अवरोधक बन गए थे। ईश्वर ने और उसके आत्मबल ने साथ न दिया होता तो सिन्ध के रेगिस्तानों या बियाबानो में वह कहीं भी मार डाला गया होता। सावधान सहायक और सच्चे हितैषी वफादार सेनापति वैरम खाँ के संरक्षण में वह अपने भाइयों के कुचक्र से बचता गया और एक दिन ऐसा भी आया कि उसके हताश भाई कैदी के रूप में उसके सामने प्रस्तुत हुए मगर फिर भी उसने उनके साथ कोई सख्ती नहीं की। उसके भाई अगर उसके साथ होते तो वह चौसा का युद्ध कभी हारता नहीं। शेर खाँ ने जब हुमायूँ को गंगा पार करने से रोका था उसी समय अगर पीछे से उसके भाइयों ने शेर खाँ पर हमला कर दिया होता तो हुमायूँ को देश से बाहर भागना ही नहीं पड़ता। कन्नौज के युद्ध में भी यही हालत रही। देश से बाहर भी उसके भाई उसको जाने देना नहीं चाहते थे और जब फारस से सेना लेकर उसने भारत में कदम रखना चाहा तो काबुल, कन्धार और गजनी में जमें हुए अपने ही भाइयों कामरान अस्करी और हिन्दाल से उसे लोहा लेना पड़ा। कामरान के हाथ में अकबर हुमायूँ का लड़का पड़ गया और काबुल के मोरचे पर उसने अकबर को उस किले की दीवार पर बैठा दिया, जहाँ घमासान युद्ध हो रहा था। तीर चल रहे थे, गोले फट रहे थे। 'जाको राखे साइयाँ मार सके न कोय' का विश्वास विजयी हुआ और अकबर का बाल तक बाँका नहीं हुआ। हुमायूँ ने काबुल पर कब्जा कर लिया। कामरान कहीं भाग गया। वर्षों बाद पिता पुत्र हुमायूँ और अकबर मिले। कामरान आखिर पकड़ा गया। हुमायूँ के सामने लाया गया, मगर दयालु हुमायूँ ने उसे क्षमा कर दिया तो भी अस्करी से मिलकर कामरान ने हुमायूँ के खिलाफ जंग छेड़ दिया। मगर कामरान कामयाब नहीं हो सका। सिन्ध में अपने श्वसुर हुसेन खाँ



के यहाँ उसने शरण ली। यहाँ से भी लाचार होकर वह दुश्मन के खेमे में जा पहुँचा। सुल्तान शाह सूर शेरशाह के उत्तराधिकारी के पास मगर यहाँ भी उसकी बेइज्जती हुई जिससे हताश और दुखी होकर वह स्यालदह की पहाड़ियों में जा छिपा, जहाँ के शासक सुल्तान अहमद खाँ गव्वकर ने उसे गिरफ्तार कर लिया और उसको हुमायूँ के सिपुर्द कर दिया। हुमायूँ ने उसे पुनः क्षमा कर दिया लेकिन हुमायूँ के इस व्यवहार का उसके सरदारों और साथियों ने जोरदार विरोध किया। इस पर उसको सजा दे दी गयी। उसे कैदखाने में डाल दिया गया और उसकी आँखें निकलवा ली गयी। हिन्दाल और अस्करी उस समय तक मर चुके थे। इस तरह हुमायूँ की रक्षा हुई और उसे अपने भाइयों से मुक्ति मिली। जिस आदमी के अपने ही अंग सड़ जायें वह भला जीवन यात्रा कैसे कर सकता है। इसको हुमायूँ का दुर्भाग्य कहा जा सकता है किन्तु उसे लांछित नहीं किया जा सकता है।

हुमायूँ में शैरो-शायरी का सखुन था जिसकी वजह वह कुछ बेफिक्री और मस्ती के अन्दाज में रहा करता था, जिससे उसको बहुत नुकसान उठाना पड़ा और मेरे विचार से उसमें यही एक खास खामी थी। हुमायूँ खुद भी शायर था। असली शायर वह है जो अपनी जिन्दगीभर अपने जमाने में ठोकरें खाता रहे और हमेशा मायूस और नाकामयाब रहे जैसे मिर्जा गालिब। खुशकिस्मती यही थी कि हुमायूँ पारिवारिक प्राणी, वफादर इन्सान शैरो-सखुन का आदी होने के साथ हिन्दुस्तान का बादशाह भी था। संसार के श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष और योद्धा वीरवर बाबर का पुत्र था। इसी ने उसकी शैरो-शायरी के सखुन को कुछ माडरेट बनाया, वरना हिन्दुस्तान तो उसके हाथ से निकल चुका था। हुमायूँ दयालु था दुनिया के लिए, ईश्वर दयालु था हुमायूँ के लिए अन्यथा ऐसी कमजोरी जिससे वह दुनिया में कभी कामयाब नहीं हो सकता है। हुमायूँ को जो कामयाबी मिली उसमें इश्वरीय चमत्कार है। अगर नेक होना बुरा है तो हुमायूँ जरूर बुरा था। ऐसे बुरे लोगों की पानी परमात्मा ही रखता है। हुमायूँ पक्का नमाजी था। वह आस्तिक था। बहुत अध्ययनशील था। पुस्तकों से उसका गहन प्रेम था। वह नियमित रूप से पुस्तकालय में बैठ कर अध्ययन करता था और वजू एवं नमाज का सख्त पावन्द था। उसका व्यक्तित्व हलका फुलका और सस्ता नहीं था।

हुमायूँ में बाँकापन नहीं था। वह सीधा और सपाट आदमी था। उसमें काइयाँपन नहीं था। छल कपट से वह कोसो दूर था। उसका भाई कामरान काबुल और कन्धार से सन्तुष्ट नहीं था। अपने लिए वह और भी अधिक प्रदेशों की माँग करता था। हुमायूँ ने उसे प्रसन्न रखने के लिए पंजाब भी दे दिया। कामरान ने हुमायूँ की शायरी की तारीफ की तो खुश होकर हुमायूँ ने उसे हिसारा और फिरोजा का इलाका भी दे दिया मगर कामरान फिर भी हुमायूँ का विरोध ही करता रहा और अपने आखरी दम तक उसे लंगी मारता रहा। यही हालत अस्करी की भी थी। वह दिल्ली की बादशाहत ही चाहता रहा। इधर हुमायूँ शेरखाँ से जीवन और मृत्यु का युद्ध लड़ रहा था। कामरान हिन्दाल के साथ मिलकर दस हजार घुड़सवारों की फौज लेकर दिल्ली पर हमला कर बैठा। जिसके आगे दुश्मन, जिसके पीछे दुश्मन वह हुमायूँ ही था जो खुदा के काल से ऐसी मुसीबत से बचकर निकल पाया। उसने अगर छल प्रपंच का सहारा लिया होता तो वह अपने भाइयों से भी मुक्त हो गया होता और शेर खाँ से भी निपट लिये होता। किन्तु उसका निश्छल व्यवहार ही उसका शत्रु बन बैठा। इतिहास के विद्वान उसके चरित्र में विरोधाभास देखते हैं और उसका जीवन वृत्त यह साबित करता है कि उसके ख्यालात में कभी कोई गन्दगी नहीं आने पाई। उसका व्यक्तित्व अनुकूल और विपरीत परिस्थितियों में सदैव समान रहा। उसने युद्ध से कभी मुँह नहीं मोड़ा और अपने गद्दार भाइयों का साथ कभी नहीं छोड़ा। इतिहासकारों को उसके चरित्र में विरोध का आभास कहाँ दीखता है ? मुहम्मद तुगलक ने अपने शासन काल



में जितने काम किये सबके दो भिन्न विरोधी रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं किन्तु हुमायूँ ने कोई भी कार्य इस तरह का नहीं किया जिससे यह पता चले कि उसके कार्य आत्मविरोधी थे।

यह बात सच है कि हुमायूँ ने कुछ संगीन भूलें की, जिनके फलस्वरूप उसको जीवनभर ठोकरें खानी पड़ी। हुमायूँ का चरित्र और उसका विचार उत्तम था। उसका स्वभाव दोषपूर्ण था। वह लापरवाह था और कामटालू प्रकृति का व्यक्ति था। वह कोई काम समयानुकूल नहीं करता था। समय का संकेत वह समझ नहीं पाता था। गुजरात का बादशाह बहादुर शाह मुगल साम्राज्य का विरोधी था। हुमायूँ के शत्रुओं का केन्द्र गुजरात बना हुआ था। दिल्ली तख्त के सभी दावेदार यथा आलम खाँ मुहम्मद जमा, मिरजा मेहदी ख्वाजा उसके पक्षधर हो गये थे और उसके यहाँ शरण ग्रहण किये हुवे थे। बहादुर शाह बहुत महत्वाकाँक्षी था। दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए उसने चित्तौड़ पर हमला कर दिया, क्यों कि वह दिल्ली के रास्ते में पड़ता था। चित्तौड़ की रानी ने हुमायूँ बादशाह से सहायता की अपील की थी, जैसे कि टाड ने अपने राजस्थान के इतिहास में लिखा है कि रानी ने हुमायूँ के पास राखी भेजी थी जिसके अनुसार हुमायूँ सेना के साथ ग्वालियर तक पहुँच भी गया था। अपनी लज्जतपना के साथ लापरवाही के कारण वह समय की गतिविधियाँ पहचान न सका। ग्वालियर आकर उसने अपना पड़ाव डाल दिया। उधर बहादुर शाह चित्तौड़ पर कहर ढाहने लगा और इधर हुमायूँ बादशाह रास रंग में डूब कर रंगरेलियाँ मनाने लगा। बहादुर शाह ने जब चित्तौड़ का गढ़ ध्वस्त कर उस पर अधिकार कर लिया। रानियों ने और राजपूत रमणियों ने अपने को अग्नि में समर्पित कर दिया तो हुमायूँ की तन्द्रा भंग हुई और उसे अपनी परिस्थिति का भान हुआ। उसने बहादुर शाह का पीछा किया। बहादुर शाह मुकाबले में ठहर न सका। वह भागने लगा। मन्दसौर के युद्ध में पराजित होकर बहादुर शाह माण्डू की ओर भागा। जब हुमायूँ माण्डू पहुँचा तो बहादुर शाह गुजरात की ओर पलायन कर गया और चम्पानेर के दुर्ग में जा छिपा। आलम खाँ और रुद्र खाँ पकड़ लिये गये, जिनको हुमायूँ ने सख्त सजा दी और अब वह चम्पानेर आ पहुँचा। बहादुर शाह यहाँ से भागकर अहमदाबाद जा पहुँचा और उसका पीछा करता हुआ हुमायूँ यहाँ भी आया। उसने अहमदाबाद पर कब्जा कर लिया। चम्पानेर जलाकर खाक में मिला दिया। मगर बहादुर शाह यहाँ से भी निकल भागने में सफल हो गया। वह खम्भात की खाड़ी में जा पहुँचा। हुमायूँ ने उसका पीछा यहाँ भी किया, जहाँ से भागकर बहादुर शाह टापू में जाकर छिप गया। हुमायूँ ने उसका पीछा करना छोड़ दिया और वापस चम्पानेर चला गया। बहादुर शाह समय पाकर फिर बाहर निकला और धीरे-धीरे पूरे गुजरात पर उसने फनः अधिकार कर लिया। हुमायूँ ने पूरे गुजरात का मुकम्मल इन्तजाम भी नहीं किया था। कई सरदारों में गुजरात को टुकड़े-टुकड़े करके उसने बाँट दिया था जिसका लाभ बहादुर शाह को मिला। गुजराती जनता भी मुगलों के खिलाफ थी। हुमायूँ द्वारा नियुक्त सभी सरदार आपस में पूर्ण अधिकार के लिये लड़ते थे। ऐसे में बहादुर शाह ने बड़ी आसानी से हुमायूँ के सभी हाकिमों को गुजरात से खदेड़ दिया और फनः गुजरात पर उसका एकाधिपत्य स्थापित हो गया।

हुमायूँ का गुजरात अभियान सफल होकर भी असफल हो गया। न तो रानी कर्मवती के ही प्रति वफादार साबित हुआ और न गुजरात के सुल्तान बहादुर शाह को ही वह पराभूत करा सका। समय की गतिविधि को एक सामान्य व्यक्ति भलि-भांति समझ रहा था और वह व्यक्ति था शेर खाँ।

सन् 1530 में हुमायूँ दिल्ली के तख्त पर बैठा और सन् 1531 तक शेर खाँ ने अपनी ताकत बढ़ाकर पूरे दक्षिणी बिहार पर अधिकार कर लिया था। उसने चुनार भी जीत लिया था। हुमायूँ ने उसको तत्काल चुनार लौटाने का आदेश दिया। शेर खाँ ने इनकार कर दिया। हुमायूँ



चुनार की ओर चल पड़ा। शेर ख़ाँ जानता था कि हुमायूँ चुनार अभियान पर अधिक दिन तक नहीं टिकेगा क्योंकि गुजरात का बादशाह बहादुर शाह दिल्ली की ओर बढ़ रहा था। हुमायूँ को तत्काल वापस होना पड़ेगा। ऐसे में उसने हुमायूँ को चकमा दिया। वह हुमायूँ का स्वामिभक्त सेवक बन गया। उसने कहला भेजा कि आखिर इस दुर्ग पर आपका कोई सेवक ही तो शासन के लिए नियुक्त किया जायेगा। क्या हर्ज है अगर यह सेवा कार्य मुझे ही सौंप दिया जाए। मैं अपने बच्चों को इसके लिए आपके पास बन्धक रखने के लिए तैयार हूँ। इसी समय हुमायूँ को दिल्ली बहादुर शाह के हमले की खबर मिली। उसने शेर ख़ाँ का प्रस्ताव मान लिया और चुनार शेर ख़ाँ को देकर वह वापस लौट गया।

हुमायूँ यह बात नहीं समझ सका कि शेर ख़ाँ और बहादुर शाह दोनों ही उसके कट्टर शत्रु हैं। शेर ख़ाँ का मामला अधकचर में छोड़ कर चित्तौड़ में रानी कर्मवती की मदद न कर और बहादुर शाह को इपू के द्वीप में जीवित और जाग्रत छोड़कर उसने अपने आत्मनाश का ही उपाय किया था। किसके साथ वफादारी करे और किसके साथ दुश्मनी यह बात उसकी समझ में नहीं आई। रानी कर्मवती की यदि उसने सहायता की होती तो बहादुर शाह को गुजरात से आगे बढ़ने की हिम्मत न होती। बहादुर शाह का काम चित्तौड़ में ही तमाम हो गया होता। एक वर्ष से अधिक का समय जो गुजरात के अभियान में उसका लगा इसका कोई लाभ उसे नहीं हुआ। बहादुर शाह की ताकत घटी नहीं एक दोस्त चित्तौड़ मटिया मेट हो गया और उधर साल भर में शेर ख़ाँ ने अपनी ताकत इतनी बढ़ा ली कि वह हुमायूँ बादशाह से मुकाबला करने लायक बन गया। इस पूरे विवरण से यही निष्कर्ष निकलता है कि हुमायूँ समय की गतिविधि को समझ नहीं पाता था। वह स्वभाव से लापरवाह और दयालु प्रकृति का आदमी था। इसका जो परिणाम होना चाहिए था वही हुआ। शेर ख़ाँ ने हुमायूँ को हिन्दुस्तान से बाहर खदेड़ कर ही दम लिया। हुमायूँ के पिता बाबर ने शेर ख़ाँ को देखते ही ताड़ लिया था कि वह कौन है और क्या है जिससे शेर ख़ाँ भी डर गया और समझ गया। दिल्ली से भाग निकलने में उसने एक पल की भी देरी नहीं की।

ऐसा था शेर ख़ाँ भी जिसने हुमायूँ बादशाह को एक ही युद्ध में ऐसी करारी हार दी कि उसको हिन्दुस्तान छोड़ कर फारस चला जाना पड़ा। गुजरात अभियान से लौटने पर हुमायूँ ने शेर ख़ाँ की तरह अपनी नजर घुमायी। उसने जौनपुर का गवर्नर बनाकर हिन्दुबेग को शेर ख़ाँ से निपटने के लिए भेजा। शेर ख़ाँ ने हिन्दुबेग की शानदार खातिरदारी की और बेशकीमती तोहफे दिये और उसने अपनी फरमावरदारी और वफादारी हुमायूँ के प्रति खूब-खूब जाहिर की। हिन्दुबेग को शेर ख़ाँ पर पूरा यकीन हो गया और हुमायूँ बादशाह को उसने लिख भेजा कि शेर ख़ाँ अपना ही आदमी है उससे कोई खतरा नहीं है और इधर शेर ख़ाँ ने बंगाल के सुल्तान महमूद पर हमला करके गौड़ पर कब्जा कर लिया। अब हुमायूँ बंगाल के तथा बिहार के अभियान पर खुद फौज लेकर चल पड़ा और उसने चुनार पर कब्जा कर लिया। बनारस आकर उसने पड़ाव डाल दिया और बेफिक्र होकर कि आगे की घटनाएँ क्या मोड़ लेगी वह नाच रंग और नशा पानी में खो गया। उसने शेर ख़ाँ के पास संदेश वाहक भेजा कि वह बिहार दिल्ली के हवाले करदे। शेर ख़ाँ ने बदले में उससे बंगाल के राज्य की माँग की। दस लाख वार्षिक कर देने को उसने वादा किया। हुमायूँ उसके शर्त से खुश हो गया उसने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

किन्तु अव्यवस्थित चंचल चित्त से किया गया अच्छा काम भी खतरनाक हो जाता है। शेर ख़ाँ से सुलह के तत्काल बाद ही बंगाल का शासक सुल्तान महमूद हुमायूँ के पास शेर ख़ाँ को बंगाल से निकाल बाहर करने में सहायता के लिए भी पहुँचा। उसने हुमायूँ को शेर ख़ाँ से



सर्तक रहने की चेतावनी दी और कहा कि शेर खाँ के शब्दों पर विश्वास न करे। बंगाल के अधिकांश भाग पर मेरा अधिकार है। आप मेरा साथ दें और इन विद्रोहियों को निकाल बाहर कर दें। हुमायूँ सुल्तान महमूद की बातों में आ गया। शेर खाँ के साथ हुई सुलह को भूलकर उसने गौड़ पर हमला कर दिया, शेर खाँ ने हुमायूँ का मुकाबला तक नहीं किया। गौड़ पर उसने उसे कब्जा करने दिया। वह यह भी जानता था कि हुमायूँ गौड़ पर कब्जा करने के बाद नाच रंग और ऐयाशी में डूब जाएगा। गौड़ की सारी कसर इधर निकाल ली जाएगी और हुमायूँ को बड़ी आसानी से गौड़ से दिल्ली नहीं पहुँचने दिया जाएगा।

हुआ भी यही ! शेर खाँ ने करीब करीब पूरे उत्तर-प्रदेश पर कब्जा कर लिया। हुमायूँ को जब होश हुआ तो वह गौड़ से चला मगर चौसा के युद्ध में शेर खाँ ने उसको गहरी शिकस्त दी। जान बचाने के लिए हुमायूँ अपने घोड़ा सहित गहरी गंगा नदी में कूद पड़ा उसका घोड़ा डूब कर मर गया और वह भी डूबने लगा। एक भिखारी ने अपनी मशक उसे पकड़ा दी जिसके सहारे उसने गंगा नदी पार की और उसकी जान बच गयी क्योंकि उसे हिन्दुस्तान का सम्राट होना ही था।

चित्तौड़ की रानी कर्मवती की सहायता न करना और गुजरात के शासक बहादुर शाह का अधूरा पीछा करना और शेर खाँ की राजनीतिक चालों को न समझ पाना, उससे सुलह करके भी सुलह तोड़ देना हुमायूँ की संगीन भूलें हैं जिनका मुआवजा उसे पूरा-पूरा चुकाना पड़ा। अगर शेरशाह के बाद उसके उत्तराधिकारी दुर्बल और अयोग्य न होते तो हुमायूँ की वापसी हिन्दुस्तान में नामुमकिन थी। हुमायूँ भाग्य का बली था और आत्मबल एवं व्यक्तित्व का धनी था। अगर आराम पसन्द था तो तकलीफ झेलने का भी आदी था। अर्कमण्य और बिलासी नहीं था। विरोधी चरित्र का व्यक्ति नहीं था। विश्वासी और कुछ आलसी और व्यसनी था। काइयाँ चतुर चालाक चालबाज नहीं था। राजनीतिक सूझ-बूझ की उसमें कमी थी। सोहबत पसन्द शायर दिल आदमियों के साथ अक्सर यही होता है। हुमायूँ को दुनियादारी में मार खानी ही थी क्योंकि वह अपने भाइयों से बड़ी मुहब्बत करता था जब कि उसके भाई उसके खून के प्यासे थे। अगर ईश्वर ने हुमायूँ की मदद न की होती तो हिन्दुस्तान में मुगल साम्राज्य कायम नहीं हुआ होता।

बाबर ने अपनी जान प्यारे पुत्र हुमायूँ पर न्यौछावर कर दी थी। रोग शैय्या पर पड़े यन्त्रणा ग्रस्त हुमायूँ के जान की खैरियत बाबर ने उसकी शैय्या की परिक्रमा कर के अल्लाह से दुआ के रूप में माँगी थी। बाबर ने उसके लिये अपनी जान अल्लाह के कदमों में अर्पित कर दी थी। अल्लाह ने उसकी गुहार सुन ली। हुमायूँ अच्छा होने लगा बाबर बीमार पड़ गया। हुमायूँ स्वस्थ हो गया, बाबर मर गया। बाबर ने शेर खाँ को भापा था। बाबर हुमायूँ को खूब समझता था और इसलिये अपने बेटों में से हुमायूँ को ही उसने अपने साम्राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। बाबर का हुमायूँ यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र था और सहज रूप से साम्राज्य का अधिकारी था फिर भी बाबर को यकीन था कि हुमायूँ ही उसके साम्राज्य को सुरक्षित रख सकेगा। उसका विश्वास सही निकला। हुमायूँ ने बाबर का पानी उतरने नहीं दिया। हिन्दुस्तान से बाहर वर्षों कष्ट सहन करता हुआ फारस के शाह की शर्तों को मानकर शिया सम्प्रदाय स्वीकार करके वह भारी सैनिक सहायता लेकर अपनी खोयी हुकूमत हासिल करने के लिये वह प्राण प्रण से अपने दुश्मन बने भाइयों से और वास्तविक शत्रुओं से जूझ पड़ा और हारी हुई बाजी जीत ली। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि हुमायूँ का व्यक्तित्व साधारण नहीं था। उसमें कुछ ऐसी भी खूबियाँ थी जो रहस्यमय ढंग से हुमायूँ की मदद कर रही थी वरना जिस संगीन प्रतिद्वन्दिता में और जिस खतरनाक जाल में हुमायूँ को डालकर बाबर संसार से विदा हुआ था, उसमें से अगर हुमायूँ कमजोर दिल का शख्स होता तो कभी भी वह कारगर नहीं हुआ होता। हुमायूँ की तारीफ



करनी पड़ती है और उसके सदगुणों से प्रभावित होना उचित है। कमियाँ उसमें थी तो क्या हुआ। इंसान में खामियाँ भी होती ही हैं। मगर जो इंसान इन खमियों से ऊपर उठने की कोशिश करता है, वही सफल मनोरथ भी होता है। तब उसकी यही खामियाँ खूबियों की शक्ल में नजर आने लगती हैं।

बाबर के मरने के बाद हुमायूँ आसानी से तख्त नशीन भी नहीं होने पाया। तख्त के अनेक दावेदार निकल आये जैसे हुमायूँ की सौतेली बहिन का खाविन्द मुहम्मद जमा मिरजा मुहम्मद सुल्तान मिरजा जो अपने को तैमूर का वंशज मानकर दिल्ली के तख्त का हकदार समझता था और जो खुरासान के सुल्तान की कन्या का पुत्र था और बाबर का बहनोई मेंहदी ख्वाजा। बाबर का वजीर निजामुद्दीन अली खलीफा मेंहदी ख्वाजा का समर्थक था और हुमायूँ के खिलाफ था। बाबर की बहन खानजाद का अन्तःफर में बड़ा प्रभाव था। वह भी इस षडयंत्र में शामिल थी। मेंहदी ख्वाजा इसका शौहर था। हुमायूँ आसानी से तख्त नशीन नहीं हुआ। उसका राज्याभिषेक चार दिन के विलम्ब के उपरान्त ही संभव हो सका। दिल्ली के तख्त पर अन्य बहुतों की नजर थी। कामरान, अस्करी और हिन्दाल हुमायूँ के भाई थे। ये भी दिल्ली का तख्त ही चाहते थे। गुजरात का बादशाह बहादुर शाह और अफगानों का सरदार शेर ख़ाँ भी दिल्ली के सिंहासन का रखवाला था। तख्त नशीन था हुमायूँ जो अपने चारों ओर उन दुश्मनों से घिरा था जो उसे तख्त से घसीट कर जमीन पर ला देना चाहते थे। बैठने को बैठ तो गया हुमायूँ तख्त पर, मगर मुश्किलों का और हालत का उसे अंदाजा नहीं था। अगर इसका कुछ अंदाज उसे होता तो वह चित्तौड़ की रणभूमि में बहादुर शाह को खत्म करके शेर ख़ाँ से बड़ी आसानी से निपट लिया होता। हुमायूँ अपनी इसी नासमझी का शिकार हो गया। यद्यपि मरते मरते उसने बादशाहत फिर हासिल कर ली मगर उसको जो ठोकरें खानी पड़ी और जो पापड़ बेलने पड़े वे आसानी से नजर अंदाज नहीं की जा सकती हैं। उसके व्यक्तित्व के मूल्यांकन से इन ठोकरों को भी बहुत कुछ इजहार करना पड़ता है। अगर हुमायूँ ने चित्तौड़ का प्रस्ताव मान लिया होता तो उसके सामने भयंकर परिस्थिति उत्पन्न नहीं हुई होती। इसी तरह अगर उसने गौड़ के सुल्तान महमूद की बात न मानी होती तो शेरशाह की टक्कर सम्मानजनक रूप से हुई होती और दोनों ही अपने अपने हक पर बने रहते। कौन सी बात माने और कौन सी बात न माने यह सोचना हुमायूँ को ही था। गलत काम का गलत अंजाम कोई रोक नहीं सकता। फिर भी यह कहना पड़ता है कि तवारीख ने हुमायूँ को उसकी गलती की भरपूर सजा दी और उसे सही करने का एक मौका और दिया क्यों कि हुमायूँ सब नासमझी और गलतियों के बावजूद एक नेक और शरीफ इंसान था। उसमें अगर कुछ खामियाँ थी तो बहुत सी खूबियाँ भी थी जो अन्त में विजयी हुई।

आपात काल के बाद प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी का चुनाव कराना भी इस प्रकरण से कुछ मेल खाता है। दिल्ली तख्त के सभी दावेदार आपात काल में जेलों में बन्द कर दिये गये थे और शासन की पाबंदियाँ बहुत सख्त कर दी गयी थी जिसको जनता ने बहुत सराहा था और इसे अनुशासन पर्व तक कह डाला था। मगर तत्काल ही इमरजेन्सी शासन की प्रतिक्रियाओं में जनता घुटन में पड़ गयी और गणतंत्र क्रियमाण हो चला। दुनिया की नजरों में भारत की हालत शोचनीय होने लगी। ऐसे में प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी ने चुनाव करा डालने की घोषणा की, इस विश्वास के साथ कि जनमत उनका साथ देगा। सभी नेतागण जेलों से बाहर आ गये। उनमें क्षणिक एकता भी हो गयी। सबने मिलजुल कर जनता पार्टी के नाम से एक संयुक्त मोर्चा बना डाला जिस कारण इंदिरा जी पूर्ण रूप से चुनाव हार गयी और वे एक साधारण व्यक्ति बन गयी। कुर्सी तो एक और दावेदार अनेक, जनता पार्टी के सभी पैदल मोहरे बादशाह बनने की ताक में आपस में उलझ पड़े। दो ही वर्षों के शासन काल के उपरान्त जनता



पार्टी का शासन काल स्वतः समाप्त हो गया और शक्ति की अलग-अलग आजमाइश चुनावी संग्राम में होने लगी जिनमें पुनः भारी बहुमत से जनता ने इंदिरा जी को अपना प्रधानमंत्री बनाया। यह बात दूसरी है कि वे इसके बाद चुनाव नहीं करा पाई और उनका आकस्मिक निधन हो गया आतंकवादियों की कायरता पूर्ण और बर्बर कारवाइयों के कारण। हुमायूँ बादशाह भी अपने सोलह वर्ष के प्रवास के बाद भारत पुनः लौटा काबुल, कन्दहार, गजनी, बदख़्शां, पंजाब, हिसार, सरहिन्द फतह करते हुए और सिकन्दर शाह मूर को सरहिन्द के युद्ध में परास्त करके भारत का सम्राट बन बैठा। इसी कहानी को चरितार्थ करने के लिए ईश्वर ने हुमायूँ को दुनिया में भेजा होगा वरना इस कार्य के पूर्ण होते ही जब कि वह अपने पुस्तकालय में अध्ययन कर रहा था, अजान की आवाज सुनकर वह नमाज पढ़ने के लिये पुस्तकालय सीढ़ियों से उतरते समय लड़खड़ा कर क्यों गिर गया और गिर गया तो क्यों मर गया। एक से एक आपदायें उस पर आई और वह न तो मारा गया न मरा। चौसा के युद्ध में गंगा नदी में वह डूबते-डूबते भिस्ती की मशक के सहारे बच गया। मगर बड़े आराम से सारी दुनियादारी दुनिया को सौंप कर वह पुस्तकों के आगोश में खुदाई आवाज को सुनकर जन्त नशी हो गया अपने लायक पुत्र अकबर को अपने पीछे छोड़ कर जिसने अपने बाप और बाबा का नाम ही नहीं रोशन किया, एक शानदार शासन व्यवस्था की परम्परा भी कायम की। वाकई हुमायूँ भाग्य का बली था, ईश्वर का प्यारा था, नमाजी और धार्मिक व्यक्ति था, खुदा में उसका गहरा यकीन था। धार्मिक कट्टरता उसमें नहीं थी, बहुत उदार था, छल कपट की दुनिया से दूर था। उसमें आत्मबल कूट-कूट कर भरा हुआ था। वह अध्ययन शील व्यक्ति था। शायरी से गहरा लगाव था खुद एक अच्छा शायर था। ज्योतिष विद्या से उसे बहुत प्रेम था और कई भाषाओं का वह जानकार था। दानी तथा रहमदिल था। पारिवारिक प्राणी था। आज्ञाकारी पुत्र था, फरमाबरदार भाई था। वह मुजस्सिम शराफत था। दोचार राजनैतिक भूलों के कारण यदि उसकी तवारीख जद्दोजहद में पड़ गई तो क्या हुआ ? क्या वह इस जद्दोजहद में भी कामयाब नहीं हुआ ? लेखनी हुमायूँ का तहेदिल से अदब करती है।



नूरजहाँ जो शह देते देते खुद मात खा गयी

भारत में मुसलिम हुकूमत के जमाने में दो औरतों ने हुकूमत चलायी, 1 रजिया 2 नूरजहाँ । रजिया गुलाम वंश के प्रतापी सुल्तान इल्तुतमिश की बेटी थी और तख्त की वास्तविक उत्तराधिकारी थी क्योंकि उसके पिता ने अपने तख्त के लिये अयोग्य पुत्रों को छोड़ कर उसे ही अपना वारिसदार बनाया था। उसकी नजर में उसमें हुकूमत करने की मादा थी। रजिया सुल्ताना थी मगर नूरजहाँ में ऐसी कोई बात नहीं थी। वह मुगल सम्राट जहाँगीर के दिल की रानी थी। स्वच्छन्द नीति अपना कर नूरजहाँ के रूप में यौवन और गुण पर मुग्ध होकर जहाँगीर ने बलपूर्वक उसको अपनी बेगम बनाया था और पूरा साम्राज्य उसके कदमों पर उसके हुस्न और जवानी की पूजा में न्यौछावर कर दिया था। सन् 1605 में जहाँगीर तख्त नशीन हुआ और और सन् 1611 में नूरजहाँ से उसने शादी की। सन् 1612 से लेकर 1626 तक पूरे पन्द्रह वर्षों तक जब तक वह मर न गया नूरजहाँ ने ही दिल्ली के तख्त से हिन्दुस्तान पर हुकूमत की। जहाँगीर के मरने के बाद एक साल तक उसमें और शाहजहाँ में तख्त पर कब्जा करने का जंग होता रहा जिसमें शाहजहाँ कामयाब हुआ और वह पूर्ण रूप से पराजित होकर शाहजहाँ द्वारा निश्चित की गयी पेंशन पर सन् 1645 तक जीवित रहकर दिवंगत हो गयी, लाहौर में।

नूरजहाँ 17 वर्षों तक शासनाधिकारिणी रही और 17 वर्षों तक शासनाधिकार से च्युत होकर सामान्य नारी की भाँति जीवित रही। 34 वर्ष की उम्र में वह जहाँगीर की बेगम बनी और 34 वर्ष तक वह बेगम के रूप में जीवित रही अर्थात् उसकी कुल उम्र दुनिया में रहने की 68 वर्ष रही। शासिका के रूप में उसका 17 वर्षों का समय काफी दिलचस्प है और तवारीख या सियासत के नजरिए से पूरा गौर के काबिल है। हुकूमत से अलग होने के बाद का और हुकूमत में आने के पहले का उसका समय एक आम औरत का समय था। औरतें अपने सामान्य जीवन में जो करती हैं, वही सब कुछ नूरजहाँ या मेहरुन्निसा ने भी किया। उसकी इस जिन्दगी में कोई नू-नच नहीं है।

वह बहुत खूबसूरत, बहुत चुस्त-दुरुस्त, तन्दुरुस्त थी, भरपूर जवान थी, वह बहुत गुणवान थी, बहुत शौकीन थी, बड़ी बुद्धिमान थी बगैरह-बगैरह कलम की नोंक पर चढ़ने लायक बातें नहीं है। कलम की नोंक पर तो वह तब चढ़ जाती है जब सम्राट जहाँगीर की नजर उस पर गड़ जाती है क्योंकि जहाँगीर पर तवारीख की नजर गड़ी हुई थी। जहाँगीर ने भी उसके रूप यौवन पर आत्मोत्सर्ग ही नहीं कर दिया पूरा साम्राज्य उसके पैरों पर निछावर कर डाला था और नूरजहाँ ने बड़ी अदा से झूमती हुई कुछ झुककर और कुछ मुस्करा कर हुकूमत की इस गेंद को अपने मुलायम पैरों से गोल पोस्ट की ओर किक किया। वक्त ने तालियाँ बजाईं। खेल शुरू हो गया।

जहाँगीर के शासन काल में कोई उल्लेखनीय घटना नहीं हुई। नूरजहाँ से विवाह होने से पूर्व तक और उसके बाद भी चार वर्ष तक वह शासन के कार्यों की देखभाल स्वयं करता रहा जैसे कान्धार की स्थिति मजबूत करना, मेवाड़ को जीतना और दक्षिण भारत के राज्य अहमद नगर, बीजापुर और गोलकुण्डा के विरुद्ध सफलता पूर्वक हमला करना। यद्यपि इन हमलों में उसे कोई खास कामयाबी नहीं मिली। हाँ एक बात यह जरूर हुई कि जहाँगीर की रानी जोधाबाई से उत्पन्न शहजादा खुर्रम का प्रभाव इन युद्धों के सफल संचालन के कारण बहुत बढ़ गया। जहाँगीर का नूरजहाँ से विवाह सन् 1611 में हुआ था। मेवाड़ विजय सन् 1613 में खुर्रम की अध्यक्षता में हुआ। जहाँगीर ने सन् 1616 में शहजादा खुर्रम को शाहजहाँ की उपाधि देकर



दक्षिण भारत अहमद नगर के खिलाफ सेना के साथ भेजा। इन सभी कार्यों में नूरजहाँ की सहमति थी लेकिन नूरजहाँ की तेज नजर शहजादा खुर्रम के बढ़ते हुए प्रभावों की तरफ थी। अब तक वह खुर्रम अली शाहजहाँ के अनुकूल थी लेकिन अब वह इर्ष्याग्नि में जलने लगी और उसको गिराने की तरकीब सोचने लगी। खुर्रम भी उसकी नियत को ताड़ गया। वह उससे सावधान रहने लगा। इसका नतीजा यह हुआ कि सन् 1622 में ईरान के शाह ने कान्धार पर कब्जा कर लिया। जहाँगीर के आदेश की अवहेलना कर नूरजहाँ की नीति की प्रतिक्रिया में खुर्रम ने कान्धार अभियान पर जाने से इनकार कर दिया। कान्धार जहाँगीर के हाथ से निकल गया।

नूरजहाँ का असली नाम था मेहरुन्निसा, जो ईरान के निवासी मिर्जा गयास बेग की पुत्री थी। मिर्जा गयास बेग अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त पारिवारिक संकट के कारण जीविकोपार्जन के निमित्त भारत चला आया। रास्ते में एक कन्या को जन्म दिया उसकी पत्नी ने जिसका नाम रखा मेहरुन्निसा। मिर्जा गयास बेग ने अकबर के यहां नौकरी कर ली। जहां से तरक्की करता हुआ वह काबुल का दीवान बना दिया गया। मेहरुन्निसा का विवाह अली कुली इस्तलजु नाम के किसी ईरानी शरणार्थी से कर दिया गया। शहजादा सलीम का जो बाद में जहाँगीर के नाम से बादशाह हुआ नजर अकबर के जमाने में हो मेहरुन्निसा के सौन्दर्य पर टिक गयी थी मगर लगता है यह ताड़कर ही उसका विवाह अली कुली से कर दिया गया। यही अली कुली आगे चल कर शेर अफगन के नाम से प्रसिद्ध हो गया जो जहाँगीर के जमाने में बंगाल में बर्दवान का फौजदार बना दिया गया। यहां बंगाल के सूबेदार से उसका झगड़ा हो गया जो शायद जहाँगीर का ही लगाया हुआ था। इस झगड़े में दोनों ने एक दूसरे को मार डाला और शेर अफगन का परिवार शाही संरक्षण में आ गया। चार वर्ष तक मेहरुन्निसा की मिजाजपुर्सी का क्रम चला। अन्तोगत्वा वह जहाँगीर से विवाह करने पर राजी हो गयी। सन् 1611 में जहाँगीर का विवाह हो गया। जहाँगीर के चार पुत्र थे मानबाई से खुसरो, जोधाबाई से खुर्रम, रानी साहिबा कमला से परवेज, और चौथी रानी से शहरयार। नूरजहाँ की एक बेटी थी जिसका नाम था लाडली बेगम। इसका विवाह शहरयार से कर दिया गया और नूरजहाँ शहरयार को ही जहाँगीर के बाद दिल्ली के तख्त पर बिठाना चाहती थी। इसलिए शहजादा खुर्रम शाहजहाँ के बढ़ते प्रभाव से वह आतंकित हो उठी थी और उसे नीचा दिखाकर अपने दामाद शहरयार को वह ऊँचे उठाना चाहती थी। उसकी कुल राजनीति का यही दायरा था जिसके चलते कान्धार मुगलों के हाथ से निकल गया और दक्षिण में भी उन्हें कोई खास कामयाबी नहीं मिली क्योंकि खुर्रम बगावत पर आमादा हो गया था।

जहाँगीर से विवाह हो जाने के बाद नूरजहाँ के नाम की तूती पूरे साम्राज्य में बोलने लग गयी थी। उसका पिता गयासबेग केन्द्र में दीवान बना दिया गया। उसका भाई आसफ ख़ाँ सेनापति बनाया गया। उसे एहमादुद्दौला की उपाधि दी गयी। उसकी माँ भी जीवित थी और सियासती मामलात में उसकी भी चलती थी। उसकी बेटी लाडली बेगम भी समझदार होने लगी थी। इस तरह नूरजहाँ का गुट असरदार और ताकतवर था जिसके बल पर शासन के कार्यों से पूरी तरह हाथ खींच लेने पर अब नूरजहाँ ही भारत की 'डी फैक्टो' शासिका हो चली थी और उसका अन्तरंग केबिनेट उसके पारिवारिक सदस्यों द्वारा ही संगठित था इस समय उसी की चलती थी और निशाने पर था खुर्रम जिसकी ताकत का लोहा पूरा भारत मानता था जो नूरजहाँ नहीं चाहती थी। शाहजहाँ को मजबूर होकर बगावत का सहारा लेना पड़ा जो नूरजहाँ को पसन्द थी क्योंकि तभी खुर्रम की ताकत को कुचला जा सकता था और शहरयार को आगे लाया



जा सकता था। अफीम शराब ऐयाशी में चूर बादशाह सलामत नूरुद्दीन जहाँगीर को दीन दुनिया का कुछ पता नहीं था। सन् 1612 से 1621 तक नूरजहाँ के गुट का एकाधिकार बना रहा। मगर सन् 1621 में उसकी माता का और 1622 में उसके पिता एतमाहुद्दौला का देहान्त हो गया। इस तरह उसका गुट टूट गया और वह कुछ कमजोर पड़ने लगी। जहाँगीर का भी स्वास्थ्य गिरता जा रहा था नूरजहाँ की चिन्तायें बढ़ने लगी कि खुदा न खास्ता अगर जहाँपनाह दुनिया में नहीं रहे तो मैं भी खुर्रम के द्वारा राज सत्ता से दूध की मक्खी की भांति निकाल दी जाऊँगी। इसलिये अपने दामाद शहरयार को तख्त नशीन करने को वह हरचन्द कोशिश करने लगी। इससे उसकी हुक्मत कायम रहेगी और बिटिया मलिकाजहाँ भी बनी रहेगी।

जहाँगीर को शराब चाहिए था और नूरजहाँ का नूर। नूरजहाँ को तख्त चाहिए था और वह भी इस्तमरारी बन्दोबस्त के तहत जिसके इन्तजाम में वह पूरी ताकत से लगी थी।

खुर्रम ने कान्धार पर हुये हमले का मुकाबला करने को जाने के लिए कड़ी शर्तें रखी। पंजाब का सूबेदारी रण थम्भौर का किला और युद्ध संचालन का उच्चतम अधिकार कोई अनुचित माँग नहीं थी। मगर नूरजहाँ चूँकि खुर्रम का प्रभाव कम करना चाहती थी इसलिये उसकी शर्तें उसे नापसन्द थी। उसने खुर्रम के खिलाफ जहाँगीर के कान भर दिए। बाद में शाहजहाँ ने धैलपुर की जागीर माँगी। नूरजहाँ ने धैलपुर की जागीर शहरयार को दे दिया और उसका सैनिक स्तर ऊँचे उठाकर खुर्रम के बदले उसी को कान्धार अभियान पर भेज दिया जिसका नतीजा हुआ कान्धार हाथ से निकल गया।

इधर शाहजहाँ ने बगावत कर दी। उसने फतहपुर सीकरी आगरा पर हमला कर दिया मगर नाकामयाब रहा। 1623 में बिलोचपुर में भी वह हारा और भाग खड़ा हुआ युद्ध के मैदान से। वह पहले माँदू गया वहाँ से असीरगढ़ गया। मलिक अकबर से उसने सहायता माँगी। मलिक अकबर ने दिल्ली के भय से उसे सहायता देने से इनकार कर दिया। नूरजहाँ ने खुर्रम के खिलाफ सेनापति महावत खाँ की पीठ ठोकी। उसने खुर्रम का पीछा किया। बेचारा खुर्रम मजबूर होकर वहाँ से भी भागा उड़ीसा की ओर। उसने वर्धमान राजमहल और ढाका पर अधिकार कर लिया। उड़ीसा बंगाल और बिहार पर भी उसने कब्जा कर लिया और आगे बढ़कर इलाहाबाद को भी घेर लिया। इस बीच महावत खाँ भी उसके पीछे मार-काट करता हुआ फौज लेकर आ पहुँचा, यहाँ भी खुर्रम हार गया। इसके बाद बुरहानपुर गया। यहाँ के जंग में भी इसकी हार हुई। लगातार की हार से खुर्रम का दिल बैठ गया। वह हताश होकर अपना मनोबल खो बैठा। उसके मददगार साथी युद्धों में मारे जा चुके थे। शाहजहाँ बीमार पड़ गया। यह समय उसकी घोर निराशा का था। नूरजहाँ इस बात से बहुत खुश थी। शाहजहाँ ने अपने पिता जहाँगीर के आगे समर्पण कर दिया और क्षमा माँगी। जहाँगीर ने उसको क्षमा कर दिया और बालघाट की जागीर दे दी गयी उसे। खुर्रम की कमर टूट गयी। नूरजहाँ ने चैन की साँस ली। यह उसकी पहली राजनैतिक सफलता थी।

खुर्रम तो दबा मगर साम्राज्य में खुर्रम को दबाने के कारण महावत खाँ का प्रभाव और प्रभुत्व बढ़ गया। नूरजहाँ के लिए यह बात सरदर्द बन गयी। महावत जहाँगीर के तीसरे पुत्र शाहजादा का संरक्षक था और उसी को वह तख्त पर बिठाना चाहता था। खुर्रम को उसने पस्त तो कर दिया मगर अब परवेज की ताकत बढ़ गयी। नूरजहाँ के लिए यह एक दूसरी मुसीबत हो गयी और उसके रास्ते में फिर एक नया रोड़ा अटक गया। नूरजहाँ अब महावत खाँ को जलील करने के फेर में पड़ गयी। उसका भाई आसफ खाँ भी केन्द्रीय स्तर का सेनापति था। उसकी सहायता से नूरजहाँ ने महावत खाँ पर युद्ध में लूटा हुआ माल और जागीरदारों से वसूली हुई



रकम का हिसाब तलब किया। महावत खाँ नूरजहाँ की नीयत को ताड़ गया और वह पाँच हजार वफादार सैनिकों के साथ सन् 1626 में पंजाब पहुँच गया जहाँगीर के सामने। यहाँ भी नूरजहाँ ने उसका अपमान किया। नूरजहाँ के इस व्यवहार से नाराज होकर महावत खाँ ने बादशाह जहाँगीर के खेमे को घेर लिया और बादशाह को अपनी हिरासत में ले लिया।

महावत खाँ ने नूरजहाँ और जहाँगीर दोनों को गिरफ्तार कर लिया मगर किसी कदर नूरजहाँ इस गिरफ्त से भाग निकलने में कामयाब हो गयी। नूरजहाँ ने बादशाह को भी महावत खाँ के चंगुल से बाहर निकालने का यत्न किया और महावत खाँ पर एक सैनिक टुकड़ी लेकर हमला कर दिया जिसमें वह हार गयी। अन्तोगत्वा उसने महावत खाँ के सामने आत्मसमर्पण कर दिया। अब वह अपने पति बादशाह जहाँगीर के साथ महावत खाँ की हिरासत में रहने लगी। एक दिन वह जहाँगीर के साथ सेना का निरीक्षण करने के लिये अपनी हिरासत से बाहर आई और महावत खाँ के चंगुल से अपने पति के साथ बच निकलने में कामयाब हो गयी। इस तरह महावत खाँ का यह सौ दिन का घेराव भी खत्म हो गया और उसके विद्रोह की आग भी ठण्डी पड़ गयी। खुर्रम को प्रभुत्वविहीन करने के बाद ही महावत खाँ को भी धूल चटाने की कोशिश में नूरजहाँ कामयाब रही। किसी को उठाना किसी को गिराना जिसको उठाना उसी को गिराना युद्ध उसकी कुल सियासत थी। खुर्रम भी शान्त हो गया और महावत खाँ भी ठण्डा पड़ गया। इस घटना के पाँच ही छह महीना के भीतर जहाँगीर भी बीमार पड़ा। इलाज कराने की फिक्क में वह काश्मीर गया और अच्छा न होने की दशा में लौटकर लाहौर आ रहा था कि रास्ते में ही वह मर गया सन् 1727 में और लाहौर में ही शाहदरा नामक स्थान में उसे दफन कर दिया गया था जहाँ पर नूरजहाँ ने एक अत्यन्त सुन्दर मकबरा उनकी याद में बनवा दिया।

जहाँगीर की मौत के बाद तवारीख लगोंटा कच्चा बाँधकर पहलवान के रूप में साम्राज्ञी नूरजहाँ बेगम के सामने आ खड़ा हुआ। अब उसका कोई सहायक या मददगार नहीं रह गया। हमदर्द और वफादार सरदार भी नहीं रह गए थे। वर्षों के आन्तरिक गृह कलह ने पूरे देश को जर्जर कर दिया था। उसके माँ-बाप मर ही चुके थे। उसके पति जहाँगीर बादशाह की मृत्यु ने उसे नितान्त अकेला बना दिया। खुर्रम और महावत खाँ को वह नीचा दिखा चुकी थी। बच गया था उसका भाई आसफ अली जो केन्द्रीय स्तर का सेनाध्यक्ष था। आज वही नूरजहाँ का प्रबल विरोधी बनकर उसके समक्ष प्रस्तुत हो गया। खुर्रम आसफ खाँ का दामाद था। आसफ खाँ खुर्रम को तख्त पर बिठाना चाहता था। नूरजहाँ आसफ खाँ की बहन अपने दामाद शहरयार को तख्त नशीन करना चाहती थी। खुशरो का खुर्रम ने वध करा ही दिया था, मगर नूरजहाँ ने उसे भी धूल चटा दी थी।

जहाँगीर की मृत्यु के तत्काल बाद ही आसफ खाँ ने चालाकी की। उसने खुशरो के लड़के दाराबख्श को तख्त पर बिठा दिया और खुद उसका संरक्षक बन गया। इसी बीच उसने शाहजादा खुर्रम शाहजहाँ को जो बालाघाट दक्षिण भारत में था जहाँगीर की मृत्यु का समाचार भेजकर तत्काल दिल्ली चले आने की खबर भेज दी। नूरजहाँ ने शहरयार को दिल्ली का बादशाह घोषित कर दिया लाहौर में और शहरयार ने पूरे खजाने पर अपना अधिकार जमा लिया। शतरंज की बिछी विसात के सभी मोहरे दोनों ओर पिट चुके थे। अब महज शह और मात का खेल बाकी था। आसफ खाँ बड़ी तेजी से और फुर्ती से अपना काम कर रहा था। उसने फौरन शहरयार पर हमला कर दिया और लाहौर के निकट युद्ध में उसे हरा कर बन्दी बना लिया। बन्दीगृह में उसने शहरयार की आँखें निकलवा ली। खुर्रम भी आ पहुँचा था। उसकी राय से दाराबख्श और सभी दूसरे शहजादों का उसने कत्ल करा दिया। सन् 1628 में आगरा में



धूमधाम से उसका राजतिलक हुआ और दिल्ली सम्राट घोषित कर दिया गया। नूरजहाँ हाथ मलती रह गयी। भाग्य का खेल उसके लिए बड़ा ही हैरतगंज रहा। महावत खाँ भी खुर्रम का ही समर्थक बन गया। अब शाहजहाँ यानी खुर्रम की ताकत बहुत बढ़ गयी थी। नूरजहाँ असहाय और निराश होकर इन दिनों को झेलने लगी। शतरंज के इस खेल में नूरजहाँ की पूरी-पूरी मात हो गयी।

शाहजहाँ ने आसफ खाँ को और भी बुलन्दी पर पहुँचा दिया। उसे 8 हजार जात का और 8 हजार मनसबदार का ओहदा दिया गया। उसको शाहजहाँ ने अपना वजीर भी तैनात किया। महावत खाँ को 7 हजार जात का और 7 हजार के मनसबदार का ओहदा देकर खानखाना की उपाधि दे दी गयी। नूरजहाँ के लिए उसने समुचित पेंशन का प्रबन्ध करा दिया। नूरजहाँ ने अपनी जिन्दगी के बचे हुए दिन लाहौर में ही गुजारे। सन् 1645 में उसकी मृत्यु हो गयी। नूरजहाँ को कविता, चित्रकारी और संगीत से बड़ा प्रेम था। वह खुद फारसी में शायरी करती थी। वस्त्रों और आभूषणों में उसने अनेक नये फैशन और डिजायन इजाद किए। वह दयालु थी और अनाथ लड़कियों के विवाह के लिए अनुदान करती थी। उसे फलों से भी प्यार था। कहा जाता है कि इत्र का इजाद भी उसी ने किया था। राजनीतिज्ञ तो वह थी ही। राजनीतिक महत्वकाँक्षाएँ भी उसकी बड़ी थी। जब तक समय उसके अनुकूल था उसने किसी को भी अपने सामने सर उठाने का अवसर नहीं दिया। जिसने ऐसा करने की जुर्रत की उसके सर को कुचल देना उसके लिये साधारण सी बात थी। शहजादा खुर्रम को उसने उसकी बढ़ती-चढ़ती ताकत के बावजूद भीगी बिल्ली बना दिया था। महावत खाँ को उसने धूल में मिला दिया। मगर जब खुदाई ही खिलाफत करने लगे तो इन्सान के सामने कोई चारा नहीं रह जाता है। वक्त खुर्रम का दम भरने लगा था। अगर ऐसा न होता तो खुद नूरजहाँ का भाई आसफ खाँ अपनी ही बहन के विरोध में क्यों खड़ा हो जाता। मगर खुर्रम आसफ खाँ का दामाद और शहरयार नूरजहाँ का दामाद था। दोनों दामादों का, दोनों शहजादों का, दोनों भाई बहनों के बीच हुए इस मुकाबले पर तवारीख भी शर्म से अपनी आँखें बन्द कर लेगा क्योंकि यह नंगी खुदगरजियों की लड़ाई थी जिसमें औचित्य अनौचित्य का कोई सवाल नहीं रह जाता है। जो कामयाब होता है तवारीख पत्रकारों की तरह अपना कैमरा और टेपरिकार्डर लेकर उसके पीछे-पीछे घूमने लग जाता है। साम्राज्य के देशी या विदेशी मोर्चों पर ना कामयाब कुछ समय के लिये हुकूमत के अन्दरूनी मामलों में प्रत्यक्षतः कामयाब किन्तु वास्तव में नाकामयाब नूरजहाँ बेगम का तवारीख से कोई ताल्लुक न होते हुए भी तवारीख के पन्नों में उसका नाम ऊँची सुर्खी से लिखा जाता है। महानता उस पर थोपी गयी प्रतीत होती है।

सियासत पौलिटिक्स या राजनीति प्रकृति के अन्तरतम से उभारी गयी विधा है यथा काग चेष्टा बकोध्यानं श्वाननिद्रा रंगा स्यार, गृद्ध दृष्टि व्याघ्र बझंपन आदि प्राकृतिक गुण या स्वभाव है। अति बुद्धिवादी चिन्तकों ने इन गुणों का आरोपण मनुष्यों में किया। इसके लिये जो शैली अपनाई गयी उसी का नाम राजनीति रख दिया गया। मैंकियावेली से लेकर कौटिल्य तक ने अपने ग्रन्थों में इसी का राग अलापा है किस प्रकार प्रतिपक्ष को चकमा देकर कोई क्षुद्र या महान स्वार्थ सिद्ध किया जा सकता है। कुछ सफल और बुद्धिमान व्यक्तियों राजाओं ने इसके जरिये बड़ा काम किया है। राज्यतन्त्रीय व्यवस्था में राजनीति यदि खेली जाये तो लोकतन्त्रीय व्यवस्था में इस खेल का स्वरूप क्या होगा ? क्या राजनीति का पर्याय लोकतन्त्रीय ढांचे में लोकनीति हो सकता है। यदि लोकनीति छल कपट की यह शैली अपनाने लगे तो नागरिकता तथा कर्तव्य अधिकार या लोक जीवन की खिचड़ी का स्वाद कैसा होगा ? क्या राजनीति व्यक्तिगत या सबल



राज पुरुषों की निजी सम्पत्ति है ? यह बात इस विवेचन में न जोड़ी जाये कि संविधान या आचार संहिता भी राजनीति है ।

नूरजहाँ बुद्धिमान जरूर थी, सियासती जीव नहीं थी। वह अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए सीधी कारवाई करती थी। खुर्रम की बढ़ती ताकत को घटाने के लिए उसने महावत खाँ की पीठ ठोकी थी और महावत खाँ की बढ़ती ताकत को कम करने के लिए उस पर कारवाई की थी। जहाँगीर के मरने पर उत्तराधिकार के युद्ध में उसे अपने ही भाई आसफ खाँ से लड़ना पड़ा था जिसमें वह हार गयी। इन उदाहरणों में राजनीतिक चाल कही भी दिखाई नहीं पड़ती बल्कि देखा जाए तो ऐसे ही प्रसंगों में प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी कहीं ज्यादा सफल राजनीति की कुशल खिलाड़ी थी। दुर्भाग्य यही था कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था के कारण उन्हें प्रायः झुकना पड़ता था और लोकमत के अनुसार चलना पड़ा था। इसमें भी उन्हें शानदार सफलताएँ मिली थीं, यद्यपि प्रतिपक्ष स्वयं सत्ताधारी बनने के चक्कर में असफल राजनैतिक नाटक खेलता रहता था। किसी को उठाना किसी को गिराना जिसको उठाना उसी को गिराना इस प्रकार की नीति में नूरजहाँ से ज्यादा महारानी कामयाब रहीं। धोखे से शारीरिक वार शास्त्र में कोई राजनीति नहीं कायरता है, गद्दारी है, मानवता के नाम पर कलंक है।





अशान्ति की आँधी : शान्ति का प्रदीप

शान्ति और व्यवस्था परस्पर पूरक शब्द हैं। अव्यवस्था से अशान्ति उत्पन्न होती है व्यवस्था से शान्ति। संसार का स्वरूप द्वन्द्वात्मक है। द्वन्द में संघर्ष की स्थिति अनिवार्य है। संघर्ष में शान्ति की स्थिति अकल्पनीय है। कहा जाता है संघर्ष ही जीवन है किन्तु वस्तुतः संघर्ष को व्यवस्थित करना ही जीवन है। व्यवस्था पूर्वक किये गये कार्य के परिणाम की चिन्ता कम होती है। इस सन्दर्भ में 'यत्ने कृते यदि न सिद्धति कोत्र दोषः अथवा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' से तात्पर्य कुछ घटा बढ़ा कर एक ही होता है। कार्य व्यवस्थित ढंग से करने पर जो भी परिणाम सामने आता है उससे आत्मबोध या आत्मशान्ति होती है। इससे यही सिद्ध होता है कि शान्ति सुव्यवस्था के घेरे में रहती है।

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ शान्ति की स्थापना का प्रयास भी आदि काल से होता आया है। वर्तमान काल में हम अपने को सभ्यता के शिखर पर पहुँचा हुआ मानते हैं। किन्तु आज संसार का कोना-कोना अशान्ति की लपटों में सुलग रहा है और पूर्ण विनाश के कगार पर पहुँच चुका है। क्या अब भी स्पष्ट हुए बिना शेष रह जाती है यह बात कि सब कुछ के बावजूद न हम अपने को व्यवस्थित कर सकें न देश-दुनिया को अव्यवस्थित चित्तानां प्रसादोन्निभयंकर ! इस अव्यवस्थित संसार की महती उपलब्धियाँ भी क्या भयावह नहीं है ? योगिराज श्री कृष्ण की विद्यमानता में ही यदुवंशी वीर समुद्र से पतहर उखाड़-उखाड़ कर उसी से परस्पर लड़े और सबके सब मर-कट गये आपस में। यह कैसी विडम्बना है जब कि श्री कृष्ण की वंशी, शान्ति और सुव्यवस्था का प्रतीक बन रही हो— मुरली तउ गोपालहि भावे।

यही हालत है हमारे देश की, आज के तथाकथित सभ्य संसार की। 'द्यावाः शान्ति' पृथिव्याः शान्ति, ओम् शान्ति शान्ति शान्ति....., वेद मंत्र का उदघोष संकेत करता है कि मानसिक या आध्यात्मिक शान्ति के बिना भौतिक शान्ति असम्भव है। अगर हमारी मानसिकता ठीक नहीं है तो इसके द्वारा किया गया कोई भी कार्य ठीक नहीं होगा। मानसिकता को ठीक करने के लिए प्रकृति अथवा प्राकृतिक शक्तियों के साथ हमारी सायुज्यता हमारी प्रथम आवश्यकता है। कवि वर्डस्वर्थ ने इसके लिये कितना लिखा किन्तु क्या उनकी किसी भी कविता को विश्व नन्दयंगम कर सका है। वेद को छोड़िये वह तो विदेशी विद्वानों के मत से **Pastoral Songs** है। उस आदिम जमाने के भारतीय गड़ेरिये 'द्यावाः शान्ति पृथिव्या शान्ति ओम्शान्ति शान्ति शान्ति' चिल्लाकर 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' की आवाज से अपनी भेड़ों को हाँकते थे। केहि बन खोजन जाई ? हमारे सर के ऊपर ही प्रकृति का साम्राज्य छाया हुआ है। उसकी व्यवस्था में कोई त्रुटि नहीं देखी गई। क्या हम उसको अपना गुरु बना कर कुछ सीख नहीं सकते ? महापण्डित रावण ने प्रकृति की दिव्य शक्तियों को हवालात में बन्द करवाया था। इसका परिणाम क्या हुआ। क्या वह स्वयं प्रकृति के हाथों नहीं मारा गया ? उसको भी मोक्ष मिला। आज के मानव ही ऐसे ही मोक्ष काम हो गये हैं ? फिर शान्ति की स्थापना का सवाल ही नहीं रह जाता। सुन्दर व्यवस्था की जरूरत ही कहाँ रह गयी। शान्ति और व्यवस्था के नाम पर चिल्ल-पों मचाना व्यर्थ है।

शान्ति की स्थापना क्यों ? क्या इसलिए कि अशान्ति है। अशान्ति हैं तो क्या बुरा हैं ? बुरा यह है कि अशान्ति की अवस्था में जीना दूभर है। जब मरना ही है तो जीने की क्या जरूरत ? जीने की नहीं मरने की आदत डालिये। जब मरना ही है तो कुछ दिन जीकर क्या



करेंगे? जीने की आशा में मरने से बेहतर मरने की दशा में जीना है। लेकिन यह क्यों खलता है। इसलिए खलता है कि मरने की दशा में जीने से सभी मानवीय संवेदनाएँ समाप्त हो जायेगी। प्रकृति ने हमें संसार में मानवी आकार में इसलिए भेजा कि हम मानवीय गुणों के विकास के द्वारा प्रकृति के अन्तरतम रहस्यों से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर स्वयं प्रकृतिस्थ होकर अमरता प्राप्त कर ले और कभी मरे नहीं। इस अवस्था की एक परम्परा कायम कर लें और परम्परावादी होकर संसार में तथा प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति में चिरन्तन सुख की स्थिति में रहें और हमारे इर्द-गिर्द एवं अन्तरात्मा में अखण्ड शान्ति बिराजती रहे। क्या नहीं पढ़ा है शेक्सपीयर का वह सॉनेट जिसमें उसने लिखा है कि—

From fairest creatures we desire increase,
That thereby beauty's rose might never die,
But as the ripper should by time decrease,
His tender heir might bear his memory.

अर्थात्,

हमारी कामना सौन्दर्य का संसार विकसित हो
कभी सौन्दर्य का यह फल्य मुरझाने नहीं पाए
कभी परिपक्व होकर किन्तु यदि यह कालकवलित हो
सुकुमल पीढ़ियों के ध्यान यह रंग छा जाए

अव्यवस्था ही व्यवस्था की जननी हैं। अशान्ति से ही शान्ति उत्पन्न होती है। यह लिखते समय विचार में मात्र जगत गति हैं न कि प्रकृति गति जिसमें शान्ति और अशान्ति व्यवस्था और अव्यवस्था सन्तुलित अवस्था में अखण्डानन्द में सुस्थित है। वही से दोनों दल बल साजकर जगत के रंग मंच पर अवरोहित होते हैं और लौकिक क्रीड़ा आरम्भ होती हैं, जिसमें दोनों तत्व जोर अजमाइश करते हैं। समस्या है महज अपनी पात्रता समझने में जिसके लिए प्रकृति ने एक कसौटी प्रदान की है चेतना की। मनुष्य की परिभाषा है कि मनुष्य एक चेतन प्राणी है। अगर हम अपनी परिभाषा पर कायम हैं तो हमें अपना पक्ष निर्धारित करने में सुविधा होगी और तदनुसार कार्य करने की।

कर्मफल और कारण कार्य प्रवाह में इतिहास जन्म धरण करता है। आदिकाल से शान्ति कामी तत्व और अशान्ति कामी तत्व परस्पर जूझते आए हैं। अति प्राचीन काल में न जाकर हम सीधे रामायण काल का ही उदाहरण क्यों न लें। इस काल में अशान्ति का पक्ष प्रबल था। सामान्य जनसमुदाय जो शान्तिपूर्वक जीवनयापन करना चाहता था, अशान्त तत्वों के आतंक से पीड़ित था। अर्थव्यवस्था पर अशान्तिकारी तत्वों का एकाधिकार था जिसका प्रतीक थी सोने की लंका। नारी समाज पर घोर अत्याचार होता था जिसका उदाहरण स्वयं जगजननी माता सीता थी। सीता से यदि पृथ्वी या जोत की जमीन का अर्थ लिया जाए तो कहा जा सकता है कि कृषि की व्यवस्था भी सुचारु रूप से नहीं हो पाती थी। आत्मशान्ति के लिये इच्छानुसार कार्य करने की भी सुविधा नहीं थी यानी इस युग की सांस्कृतिक अवस्था भी दयनीय थी क्योंकि न तो



कोई पूजा पाठ कर सकता था न यज्ञ या कर्मकाण्ड। जंगलों में ऋषि, मुनि तपस्या या चिन्तन, आराधना, जप, नामस्मरण, भजन कीर्तन, नहीं कर पाते थे। ऐसा करने वालों को मार डाला जाता था। उनसे भी कर वसूला जाता था जब कि वे जंगली फलों या कन्दमूल पर अथवा निराहार या भिक्षाटन द्वारा जीविकोपार्जन करते थे। द्रव्य रखना उनके लिये पाप था। मगर उनसे भी कर उनके जंघे से खून निकाल कर द्रव्य के रूप में लिया जाता था। ताड़का, सुबाहु, मारीचि खरदूषण त्रिशिरा जैसे वीरों के जिम्में यह सारा कार्य लगा दिया गया था। सीमा सुरक्षा बड़ी कड़ी थी। लंका राजधनी में प्रवेश कर पाना बड़े-बड़े योद्धाओं के लिये भी असम्भव था। समुद्र स्वयं एक प्रहरी था। अनेक मायावी गण प्रमुख चाकरी में थे। एक मायाविनी विदुषी ने हनुमान जी को माया से घोटना चाहा तो तासु कपट कपि तुरतहि चीन्ही। 'ताहि मारि मारुत सुत बीरा, वारिध पार गयो मतिधीरा'। अशान्ति का नग्न ताण्डव था यह जिसका विरोध हनुमान जी ने लंका जलाकर किया और जन सामान्य का संगठन करके मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने प्रबल प्रराक्रम से मूर्तिमान अशान्त तत्व महापण्डित रावण का उसके कुल कुटुम्ब सहित संहार किया और शान्ति का राज्य रामराज्य स्थापित किया जिसमें दैहिक दैविक भौतिक तापा-रामराज्य काहू नहि व्यापा की अवस्था बहुकाल तक रही। कथा कहिये, कवि कल्पना कहिये, गप कहिये, मरजी आपकी। आदि कवि वाल्मीकि से लेकर महा कवि सन्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी तक चिन्तन का यह एक युग आदर्श के रूप में युग-युग से भारतवासियों के नन्दय में कसक बनकर आध्यात्मिक सुख देता है और प्रत्येक भारतवासी इसी व्यवस्था का इसी शक्ति का पूजक आराधक होने में जीवन की सार्थकता मानता है।

अब प्रस्तुत है ऐतिहासिक घटनाओं का छलकता लबरेज प्याला महाभारतकालीन शान्ति-अशान्ति की लड़ाई के रूप में। जी हाँ यह शान्ति-अशान्ति की ही लड़ाई थी, पाण्डव जैसे वीर पुरुषों को खाने के लाले नहीं पड़े थे। यह रोटी की लड़ाई नहीं थी। यम योगेश्वरः कष्णः यत्र पार्थे धुधर्ः वहाँ रोटी की समस्या ! नहीं-नहीं, यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः अम्युत्थानं धर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम् की समस्या थी। इसी हेतु इस युग में योगिराज की वंशी और चक्र सुदर्शन तथा महानधनुर्धर पार्थ का गाण्डीव और महाबली हनुमान अंशी भीम की गदा तथा श्री कृष्ण का पांचजन्य उद्घोष कर उठा था कि आततायियों का समूल नाश होगा, पाखण्डियों नारकीय क्रूर शस्त्र धरियों का मूलोच्छेद होगा भले ही शासनतंत्र रहे न रहे। यह वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया का महाकाल था जिसमें भरी सभा में द्रौपदी नंगी की गयी थी अपने ही स्वजनों के द्वारा। धर्म की व्याख्या करने में महाप्रतापी धर्माचार्य कुलकेतु भीष्म पितामह भी आततायियों के धर्म के साथ हो गये और धर्मराज युधिष्ठिर का भी पौरुष कुण्ठित हो गया। श्रीकृष्ण न होते पृष्ठभूमि में तो उसी दिन नारी समाज का पृथ्वी से लोप हो गया होता। क्या होगा ऐसी धरती को लेकर जिसकी धरण करने की शक्ति ही लुप्त हो जाये। समस्त आततायी शक्तियाँ या वीर सामन्त एकत्रित थे झुण्ड बाँधकर इस व्यवस्था के युद्ध में, जिसको धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र कहा गया। परिणाम सर्वविदित है। रामायणोपरान्त रामराज्य, महाभारतोपरान्त पूर्ण विनाश ! प्रकृति प्रदत्त कोप ने भी इसका समर्थन किया। रहा सहा जनमेजय के नाग यज्ञ ने पूरा किया महाभारतोत्तर नरेशगण दार्शनिक होने लगे। संसार की निःसारता पर चिन्तन करने लगे और जनता जनार्दन की सेवा की चिन्ता में जैसे-तैसे राज्य संचालन करने लगे कि घोर प्रतिक्रिया का काल बौद्धों का युग अवतरित हो गया।

राम रावण युद्ध सांस्कृतिक मोरचे पर लड़ा गया था और कौरव पाण्डव युद्ध लड़ा गया था धखमक उन्माद के मोरचे पर, जिसमें घोर स्वार्थी और अपराधी तत्वों ने धर्म की खाल ओढ़ली



थी। इसीलिए श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'सर्वान धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रजः' राम रावण युद्ध व्यापक स्तर पर हुआ था। यह जीवन मूल्यों का युद्ध था। इसका परिणाम सुखद रहा कि मानव जीवन मूल्यों की स्थापना हुई और इसकी परम्परा चली जो आज भी किसी न किसी रूप में भारतीय जीवन और विचार धरा में आस्था के रूप में जीवित है। महाभारत बहुत तंगदायरे में हुआ था। यह युद्ध मूल्यों के लिए नहीं स्वार्थों के लिए अहंकार के बल पर लड़ा गया था। महाभारत का युद्ध गृह युद्ध था और गृह युद्ध का परिणाम कभी सुखद नहीं होता है इसमें जीवन के मूल्य ही नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए रामायण की कथा में जनता का अटूट विश्वास है और साधारण जनता महाभारत की पोथी पढ़ती भी नहीं कि इसके पढ़ने से अमंगल होगा। इसे विशिष्ट ज्ञानी जन ही पढ़ते हैं। इतिहास की दृष्टि में महाभारत का बड़ा महत्व है। ज्ञान की बहुत सी बातें इसमें भरी हुई हैं। तदुपरान्त जनमानस श्रीमद्भागवत की कथा बड़े प्रेम से श्रवण करता है लेकिन महाभारत की कथा न कहीं होती है, न कोई सुनना पसन्द करता है। महाभारत की कथा पश्चाताप के भाव से अश्वत्थामा सुनते हैं नियमित और रामायण की कथा हनुमान जी महाराज सुनते हैं भाव विभोर होकर। ज्ञान फल चखने के लिए महाभारत पर्याप्त है, श्रद्धा विश्वास और भक्ति की दृष्टि से रामायण वरेण्य है।

पूर्व वैदिक काल की सरल और सहज व्यवस्था कालान्तर में जटिल और कुटिल हो गयी। समाज में पुरोहितों का अनुचित प्रभाव बहुत बढ़ गया था। धर्मिक सिद्धान्त जो जन सामान्य के आचरण में सहजतः व्याप्त थे पुरोहितों एवं कर्मकाण्डियों और यज्ञ कर्ताओं के हथकण्डों के शिकार हो गये। कृत्रिम धखमक अनुशासनों के बोझ के नीचे जनसामान्य त्रस्त खिन्न एवं दुखित था किन्तु कुपित नहीं था। वर्ण ने जाति का रूप धारण कर लिया था। धर्म में हिंसा का स्थान सर्वमान्य हो चला था। देवताओं को खून से नहलाया जाने लगा था। नये-नये दीमक, दार्शनिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त पनपने लगे थे। प्रतिक्रिया यहाँ तक हुई कि खावो, पीवो, मौज करो, हृणं कृत्वा घृतं पीवेत, यावत् जीवेत् सुखं जीवेत् की दशा में ज्यादा दिलचस्पी बढ़ने लगी। सब की परिणति महाभारत के युद्ध में महाविनाश के रूप में हुई। इसी के भस्म की राख से गौतम बुद्ध उत्पन्न हुए जिनकी आचरण संहिता और दार्शनिकता के स्वरूप पर जनमानस मुग्ध हो गया तथा अहिंसा और सत्य की दिशा में प्यासे हिरन की भाँति बढ़ चला। वेदों को चुनौती दी जाने लगी। मोक्ष को धक्का दिया जाने लगा। कर्मकाण्डों और यज्ञों से लोग भागने लगे। यथार्थवादिता की भूमि पर जीवन की खेती प्रिय लगने लगी। लगा कि शान्ति साम्राज्य कायम हो गया। पंचशील के सिद्धान्तों के गीत गाये जाने लगे। सम्राट अशोक ने इस पर सोने का पानी चढ़ा दिया। विदेशों में उस जमाने की पूरी दुनिया का धर्म बुद्ध धर्म बन गया। यह सब कुछ उत्तर वैदिक काल की अव्यवस्था का प्रतिफल था। अशान्ति से शान्ति दूसरी बार जनमी। इसका जन्म प्रथम रामायण काल में हुआ था, जब रामराज्य की स्थापना हुई थी।

किन्तु तर्कसंगत यथार्थवादी और भोगवादी श्रमण संस्कृति की वेदभूमि भारत में बहुत काल तक चल नहीं सकी। गौतम बुद्ध की भविष्यवाणी के अनुसार केवल 500 वर्षों के भीतर ही इसका नास होने लगा। कारण और कुछ नहीं शून्यवाद की दार्शनिकता विचारों को ठोस आधार न दे सकी। इससे कहीं अधिक माखमक और स्थायी भाव विचार वह रहस्यमय वेद वाणी की आन्तरिक पुकार थी जो कस्मै देवाय हविषा विधेम का उद्घोष करती थी। सृष्टिकर्ता की खोज और उससे अपनी सायुज्यता की वेदना रह रहकर उभरती रही। इधर बौद्ध बिहार व्यभिचार और भ्रष्टाचार के अड्डे बनने लगे। यही नहीं बौद्ध श्रमणों का सम्बन्ध विदेशों से भी जुड़ गया था। विदेशियों के आक्रमण भी भारत पर होने लगे थे। बौद्धश्रमण विदेशियों से मिल गये थे। मौर्य



शासन सम्राट अशोक के बाद अस्त-व्यस्त हो गया था। अशान्ति और अराजकता पूरे देश में व्याप्त होने लगी थी। वैदिक साहित्य भी चुप नहीं था। बौद्धों पर उसके बौछार होते रहते थे। परिणाम यह हुआ कि एक बार पुनः शान्ति स्थापना की समस्या उत्पन्न हो गयी। मौर्य सम्राट वृहद्रथ का सैनिक प्रदर्शन के समय सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सिर काट डाला। इसका किसी दिशा से कोई विरोध नहीं हुआ। व्यवस्था बदल गयी। शुगवंश का राज्य कायम हो गया। और पूरे देश में खण्डाधिपतियों की धक जम गयी। ऐसे में यवनों की बन आई जिन्हें पुष्यमित्र शुग ने भारत में अपना पैर जमाने नहीं दिया। इस खुशी में पुष्यमित्र शुंग ने अश्वमेध यज्ञ भी किया जो बौद्ध धर्म पर वैदिक धर्म की विजय का प्रतीक समझा जाता है। देशद्रोह के अपराध में बहुत से श्रमणों के सिर काट डाले गये। शान्ति स्थापनार्थ और राष्ट्र रक्षार्थ सेनापति पुष्यमित्र शुग ने बहुत कड़ाई से काम लिया और कुछ दशकों के लिए उसने शान्ति की स्थापना कर ही डाली। लेकिन यह सब कुछ सेना के बल पर हुआ था। जन सामान्य से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। विदेशियों के हमले लगातार होते रहे और उन्होंने इस देश के कुछ भागों पर स्थायी अधिकार भी जमा लिया। शकों ने मध्य देश में अपना विशाल राज्य भी कायम कर लिया था। आन्ध्र सातवाहन वंश के राजाओं के साथ उनके युद्ध निरन्तर होते रहते थे। बिना किसी स्थायी परिणाम के यह अवस्था अधिक काल तक बनी रही तब तक जब तक कि गुप्त वंशीय सम्राटों का इतिहास के रंगमंच पर अवतरण नहीं हुआ। जन जागृति नहीं के बराबर थी। हाँ, साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में नये ढंग से प्रगति होती रही। शुर्घे शासन कुषाण शासन एवं आंध्र सातवाहन शासन काल में इस दिशा में प्रगति सराहनीय थी। मूर्तिकला का भी विकास होने लगा था। चिकित्सा विज्ञान एवं दार्शनशास्त्रों एवं बौद्ध साहित्य में तथा धखमक क्षेत्र में सन्तोष जनक कार्य होते रहे। भारत पर विदेशियों के राज्य बनते और बिगड़ते रहे। इस काल में कोई केन्द्रस्थ राज्यसत्ता भी नहीं थी। सदियों तक भारत इसी दशा में पड़ा जीवित रहा, तब तक गुप्तवंशीय नरेशों और सम्राटों का केन्द्र में उदय हुआ। मौर्यों एवं गुप्तों की शक्ति का केन्द्र बिहार भूमि पाटलिपुत्र आज का पटना था। इसके पूर्व काल में अशान्ति का राज्य था जिसका प्रभाव जनता पर नहीं राज्य सत्ताधारियों पर ही था। सेना के बल से ही आपस में या विदेशियों से अलग-अलग जूझते रहते थे

शान्ति और सुव्यवस्था की दृष्टि से गुप्त काल भारत का स्वर्ण युग कहा जाता है। बौद्धों का प्रभाव घटने लगा था और एक बार फिर सम्पूर्ण भारतवर्ष वेदवाणी से गूँज उठा। दक्षिण भारतवर्ष वेदों के अध्ययन का केन्द्र बनने लगा। कांची दूसरी काशी कहलाये जाने लगी। गुप्तकाल के बाद भारतवर्ष में पुनः अराजकता व्याप्त हो गयी और छोटे-छोटे खण्डाधिपतियों ने यत्र-तत्र सम्पूर्ण भारत में अगणित राज्य कायम कर लिये जिनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धार्थ युद्ध होते रहते थे। ऐसे में वर्द्धन वंश के कुलदीपक सम्राट हर्षवर्द्धन ने कुछ दशकों के लिए उत्तर भारतवर्ष में एक सुदृढ़ शासन व्यवस्था कायम की। उस समय भारत राजनैतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त हो गया। उत्तर भारत में सकलौत्तरापथनाथ सम्राट हर्षवर्द्धन और दक्षिण में पुलकेशिन द्वितीय लेकिन, सांस्कृतिक दृष्टि से भारतवर्ष में बँटवारा न कभी हुआ था और न कभी होगा। क्योंकि उसकी दृष्टि में भारत अखण्ड और अविभाज्य रहा है। सातवीं शताब्दी से लेकर 15 अगस्त सन् 1947 तक का भारत वर्ष का इतिहास पराधीनता का इतिहास रहा है, जिसको पूरे तौर से टूट जाने से भारत के दृषियों, सन्तों एवं महात्माओं ने बचाया।

यह भारतवर्ष की मौलिकता की समाप्ति की चेष्टा का महाअन्धकार युग कहा जा सकता है। इस युग में शान्ति और अशान्ति के बीच संघर्ष की कोई स्थिति ही नहीं रह गयी थी।



विदेशी प्रभावों की दया पर भारतवासी जीते रहे। गोस्वामी जी की चौपाई यदि व्यंगार्थ में ग्रहण की जाए की तो इस युग की जनता की मानसिकता का स्पष्ट स्वरूप विदित हुए बिना नहीं रहेगा। चौपाई है—कोउ नृप होहि हमहिं का हानी, चेरि छाड़ि अब होब कि रानी।

इस घोर अन्धकार के दीर्घकालीन युग में शान्ति की स्थापना कोई ऐसी समस्या नहीं की जो उचित और समीचीन कही जाती बल्कि क्रूरता से सैनिक बल से, आतंक से भारतीय जनता को दबा कर गुलाम बना कर उस पर स्थिरतापूर्वक हुकूमत करने की थी। इसी के निमित्त विदेशियों का महाअभियान जारी हो गया जिन्होंने अपने विरोधियों को चाहे वे भारतीय रहे हों या अभारतीय, भयंकर यातना और उत्पीड़न के द्वारा सर्वदा के लिए शान्त कर दिया। शान्ति अशान्ति के बीच अप्राकृतिक युद्ध का यह युग था। इस युग में कुछ ऐसे नाम लिये जा सकते हैं जिनको सुन कर रोम-रोम थर्रा उठते हैं। महमूद गजनी, मुहम्मद गोरी, बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, आततायी तैमूरलंग, सिकन्दर लोदी, इब्राहिम लोदी, औरंगजेब, नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली वगैरह। कोई सुल्तान बने अपने चाचा का उस समय सिर कटवा देता है, जब चाचा भतीजे को शाबासी देने की हालत में उसे अपने कलेजे से चिपकाये हो। कोई विजय यात्रा से लौट कर आये अपने बाप को स्वागत समारोह में धोखे से मरवा डालता हो, कोई बगावती सरदारों को कत्ल करके उसकी खाल खिंचवा कर उसमें भूसा भरकर पूरी सल्तनत में प्रदखशत करता हो और उसके माँस का कबाब बनवाकर उसके सम्बन्धियों को खिलाता हो, कोई अपने भाइयों की आँख निकलवा लेता हो, उसको चिरवा डालता हो, तरह-तरह की यातनाएं देकर मार डालता हो, कोई बाप के आगे उसके प्रिय पुत्र का सिर काटकर उसे तश्तरी में रखकर नजराना के तौर पर प्रस्तुत करता हो। बगावतियों की फौज को कत्ल कराकर कई किलोमीटर सड़कों के दोनों तरफ उनकी लाशों को टुकड़े-टुकड़े करके टँगवा देता हो और उसके बीच से शाही सवारी निकालता हो। ऐसे अमानवीय कारनामों की कहाँ तक गिनती गिनायी जाए। कलिंग के रणक्षेत्र में बिछी लाशों को देखकर सम्राट अशोक का नन्दय परिवर्तन हो गया। वह अहिंसक बन गया। उसने युद्ध कभी न करने की प्रतिज्ञा कर ली और मानव धर्म का प्रचार करने के लिये देश-विदेश में मिशनरियाँ भेजी। उधर खनवा के युद्ध में बाबर ने युद्ध जीतकर हिन्दुओं के सिर का स्तूप खड़ा किया जिसके ऊपर इस्लाम धर्म का परचम लहरा कर खुद गाजी की उपाधि धारण की। शान्ति अशान्ति के युद्ध का यह भी एक बेमिसाल नजीर है। हमारे आज के उग्रवादी इनसे अभी बहुत पीछे हैं। इनकी विदेशों में पाई ट्रेनिंग अधूरी लगती है। ऐसे अंधकार में भारत के सन्त और महात्मा अपनी अमृतवाणी से मानवता की एवं भारतीयता की रक्षा करते आए हैं। शान्ति और अशान्ति के बीच यह भीषण भयानक खूनी युद्ध हमारे देश में सदियों तक चलता रहा। किन्तु भारतीय भूमि की सहन शक्ति भी विलक्षण है कि यहा कि प्रजा ऐसे में कभी बगावती नहीं रही। कहीं कुछ क्षेत्राधिपति जैसे शिवाजी महाराज, छत्रसाल, महाराणा प्रताप जैसे योद्धा हुए जिन्होंने वीरता पराक्रम शौर्य और बुद्धि से ऐसी विनाशकारी प्रवृत्तियों का दमन किया ओर अन्तोगत्वा इनका विनाश भी किया।

गोरी हुकूमत की गुलामी के युग में ऐसी विभीषिका नहीं रही। फिर भी शासकों ने दूसरे प्रकार के सभ्य तरीके से उत्पीड़न किया जिसकी प्रतिक्रिया सन् 1857 के विप्लव में हुई और जैसे जैसे अंग्रेज भारतीय शक्ति से परिचित होते गये धीरे धीरे यहाँ से पलायन करने की भी तैयारी करते रहे। अन्त में 15 अगस्त 1947 में भारतवर्ष अन्धकार से प्रकाश के लोक में आया और सदियों बाद स्वाधीनता का अखण्ड प्रदीप भारत खण्ड में जगमगा उठा, जिसको बुझाने का षडयन्त्र दुर्भाग्य से वही लोग कर रहे हैं जिन्होंने सदियों अभिशप्त जीवन व्यतीत किया। ये लोग



इतिहास का दर्द



और नहीं हैं सिवा उन सामन्तों के, जिन्होंने परस्पर की लड़ाई में देश को गुलाम बनाया। ये लोग वहीं हैं जो अब क्षेत्राधिपति नहीं रह गये हैं। इन्होंने राजनैतिक पार्टी का रूप बना लिया है और क्षेत्र राज्य कायम करने की चेष्टा में दिन रात संलग्न है।





गणतन्त्र भारत के कुछ बुनियादी सवाल

हम कितने भाग्यशाली हैं जो स्वतंत्र भारत वर्ष के स्वतंत्र वायुमण्डल में सांस ले रहे हैं। सदियों बाद भारत का सुख-सौभाग्य जागा है। समूचे देश में गणतन्त्रीय संविधान लागू है किन्तु कुछ ऐसे सवाल हैं जो रह रहकर दिल को कुरेदते रहते हैं जो क्रमानुसार पाठक बन्धुओं के विचारार्थ प्रस्तुत हैं—

भारतीय स्वाधीनता संग्राम के दौरान जब अंग्रेजों से समझौते की वार्ता के पूर्व काँग्रेस पूर्ण स्वराज्य के पक्ष में थी। एक तरफ काँग्रेस थी और दूसरी तरफ थे अंग्रेज। साम्प्रदायिक पार्टी मुस्लिम लीग को सम्मिलित कर ही लिया गया तो दूसरे अपेक्षाकृत अधिक बलवान प्रतिपक्ष हिन्दू महासभा को समझौता वार्ता में क्यों नहीं सम्मिलित किया गया ? काँग्रेस तो राष्ट्रीय महासभा थी। उसके लिये जैसे हिन्दू वैसे मुसलमान। धार्मिक दृष्टि से वह आरम्भ से ही धर्म निरपेक्ष थी। फिर धर्म के नाम पर उसने भारत का विभाजन स्वीकार क्यों कर लिया? धर्म के नाम पर उसने मुसलमानों को जब पाकिस्तान दे दिया तो धर्म के नाम पर उसने क्यों नहीं 'हिन्दुस्तान' की व्यवस्था की ? हिन्दू महासभा को समझौता वार्ता से बाहर करके मुस्लिम लीग से बात करने के लिए तैयार क्यों हो गई? याद रहे वीर सावरकर ने भारतीय स्वतंत्रता के लिये जो अविस्मरणीय त्याग किया वह बेमिसाल है। काँग्रेस का यह काम राष्ट्रीयता की दृष्टि से अनुचित था। उसके लिये जैसे हिन्दू वैसे मुसलमान! काँग्रेस की इसी सन्दिग्ध राष्ट्रीयता की नीति के कारण भारत के मुसलमान धर्म के नाम पर असहिष्णु हो उठते हैं और उनकी राष्ट्रीयता की भावना पर प्रश्नचिन्ह उभरने लग जाते हैं। काँग्रेस की इसी सन्दिग्ध राष्ट्रीयता की नीति का परिणाम है कि भारत के कोने-कोने से अलगाववादी प्रवृत्तियों ने सिर उठाना शुरू कर दिया है।

गुरु नानकदेव जी महाराज, विटठल भगवान सन्त तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर, रामानुजचार्य रामानन्द जी, सन्त कबीर, गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज, मलूक दास, रविदास, सेन के समान ही वैदिक आर्य जाति की विभूति थे। नानक देव जी हिन्दुत्व की रक्षा के लिये अवतरित हुए थे जिनके शिष्यों ने हिन्दू धर्म की रक्षा के हेतु दृढ़ महाव्रत लिया था और पंच 'ककार' धारण किया था, कुरबानी दी थी। काँग्रेस ने झण्डा गान में हिन्दू मुसलिम सिख ईसाई का अंश क्यों जोड़ दिया था ? और जब जोड़ ही दिया था तो अकेले मुसलिम लीग से ही क्यों बँटवारा कर लिया ? शेष से क्यों नहीं ? वसूल ठीक रहता है तो व्यवहार बिगड़ता नहीं है ।

दूसरा सवाल है स्वाधीनता दिवस का । सन् 1929 में पण्डित जवाहर लालनेहरु की अध्यक्षता में लाहोर में आयोजित राष्ट्रीय महासभा काँग्रेस के अधिवेशन में पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ था और 26 जनवरी 1930 को स्वाधीनता दिवस के रूप में पहली बार मनाया गया। तब से लेकर सन् 1947 तक यह दिवस स्वाधीनता दिवस के ही रूप में मनाया जाता रहा। सन् 1947 की 26 जनवरी भी स्वाधीनता दिवस के ही रूप में मनायी गयी। सन् 1947 में ही भारत का विभाजन हुआ और 15 अगस्त 1947 को परतन्त्रता की बेड़ी कटी। देश स्वतंत्र हो गया। पूरे भारतवर्ष में स्वाधीनता की खुशी व्याप्त हो गयी। 26 जनवरी की साधना और तपस्या फलवती हुई। 15 अगस्त 1947 को जो खुशी मनायी गयी इसी का नाम पड़ गया स्वाधीनता दिवस। सन् 1930 से सन् 1947 तक 17 वर्षों तक 26 जनवरी स्वाधीनता दिवस रही किन्तु सन् 1947 से 15 अगस्त ही यज्ञ का स्वामी अपने आप ही बन बैठा और वह स्वाधीनता दिवस कहलाया जाने लगा। अब लोग 15 अगस्त को ही स्वाधीनता दिवस कहते हैं। 26 जनवरी भी कभी स्वाधीनता दिवस थी यह लोग भूल गये हैं। स्वाधीनता दिवस नामधारी 26



जनवरी 17 वर्ष की अवस्था में इतिहास के पन्नों से विलुप्त हो गयी। 15 अगस्त ने उसे अपदस्थ कर दिया।

‘बिच्छी, केरा, बाँस अपने जनमले नास’ की तरह इधर 15 अगस्त का जन्म हुआ उधर 26 जनवरी की मृत्यु हो गयी। 26 जनवरी को गणतन्त्र दिवस बना दिया गया। सन् 1948 से लेकर सन् 1951 तक यानी चार वर्षों तक बेचारी 26 जनवरी प्रेतात्मा जैसी भारतीय वातावरण में पड़ी रही। 26 जनवरी सन् 1952 में इसका श्राद्ध कर्म हो गया और इसका नाम गणतन्त्र दिवस हो गया। सुनते हैं किसी की जन्म तिथि और मृत्यु तिथि बदलती नहीं है किन्तु कितनी विचित्र बात है कि स्वाधीनता दिवस की जन्म तिथि बदल गयी। इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे इरादे बदल गये, संकल्प बदल गये और मंत्र बदल गये। यह बात क्या अभी भी अस्पष्ट सी ही है कि हमारे रहनुमा राजनेता महापुरुष महात्मा गांधी की समाधि पर किस प्रकार की शपथे खाते हैं और इनकी कथनी करनी में क्यों अंतर होता है? जैसा संकल्प वैसा फल। क्या हानि थी अगर 15 अगस्त को ही जिसे कभी सत्ता हस्तान्तरण दिवस भी कहा गया था गणतन्त्र दिवस मान लिया गया होता। 15 अगस्त तो संयोग से महान हो गया। महानता उसकी कमाई नहीं छब्बीस जनवरी की कमाई थी। श्रेय किसी को, प्रयास किसी का, क्या यह न मानना दुराग्रह नहीं है ?

किसी देश का संविधान उस देश का भाग्य विधता होता है सर्वमान्य, सर्वपूज्य। संविधान में किसी भी व्यक्ति को किसी भी संस्था को यानी दल को जो गैर कानूनी एवं आसामाजिक तत्व न हो लोक सभा या विधन सभा, विधान परिषद या राज्य सभा के जरिये अपना विचार प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया है। यह इसलिए कि देश स्वतंत्र हो गया है सदियों बाद। सर्वसाधारण यह अनुभव करे कि हम स्वतंत्र हैं और अपनी बात कहने का हमें पूरा हक है।

इस धरा के चलते ही आम निर्वाचन में कोई भी चुनावी रणक्षेत्र में उतरता है। तमाम तरह की राजनैतिक पार्टियां तमाम तरह के निर्दल लोग चुनावी संगम के महातीर्थ पर उतर कर पुण्य लाभ करते हैं। किसी की जमानत जब्त होती है किसी की नाव मझधार में डूबती है तो कोई किनारे पहुँच कर ही डूब जाती है। परिणाम के तरह-तरह के नजारे दृष्टिगोचर होते रहते हैं और एक अजीब चुनावी नशा कुछ महीनों तक छाया रहता है। एक कुर्सी के इर्द-गिर्द बेशुमार लोग लड़ते झगड़ते, टूटते फूटते बनते बिगड़ते दिखाई देते हैं किन्तु जो कुर्सी पर पहले से बैठा रहता है उसका बाल भी बाँका नहीं होता यद्यपि चुनाव में वह भी उतरता है। सत्ताधारी पक्ष अल्पमत होते हुए भी सदैव शासनारूढ़ रहता है। इधर इससे और कुछ नहीं होता केवल विरोध की ताकत छिन्न भिन्न हो जाती है और सत्ताधारी को सफलता सहज ही मिल जाती है। पहली बार जो कुर्सी पर बैठता है कुर्सी उसी के नाम पंजीकृत हो जाती है।

संविधान में यह नियम तो बड़े ही पवित्र और उच्च विचार से बनाया गया मगर इसके नतीजे देश के लिए बड़े घातक सिद्ध हुए। सत्ता परिवर्तन कभी नहीं हुआ। सत्ताधारी मदान्ध होने लगे। दंश का कृत्रिम और काल्पनिक विकास होने लगा। सत्ताधारियों की पूँजी विदेशों में जमा होने लगी। विदेशी नागरिकता प्रिय होने लगी। सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम् भारत भूमि चोरों, डकैतों, भ्रष्टाचारियों, उग्रवादियों, हत्यारों, घूस खोरों, अराजक तत्वों असामाजिक तत्वों से चप्पा चप्पा भर गयी। यही सब लेकर हमें अपने अपने कम्प्यूटरों में भर कर सन् इक्कीसवीं सदी में जाना है। इस वर्ष 1987 विधान परिषद के शती समारोह में हमारे प्रधानमंत्री ने स्पष्ट शब्दों में यह कबूल किया है कि लोकतन्त्रीय भारत की दुर्बलता इसमें अनेक राजनैतिक दलों का होना है। ज्यादा से ज्यादा तीन या दो पाखटियाँ अगर होती तो देश इस अवस्था में नहीं होता। प्रधानमंत्री के विचार से लेखक पूर्ण सहमत है और एक स्थानीय साप्ताहिक पत्र ‘जनचक्षु’ में



लेख लिखकर महज इसी बात के लिये अपने प्रधानमंत्री का अभिनन्दन किया है कि राजीव तुम्हारा अभिनन्दन !

हँसी आती है जब कोई दल-बदल की खिल्ली उड़ाता है या आया राम गया राम कहकर ठठ्ठा मारता है। एक बड़े राजनैतिक दल के नेता ने मुझे दल बदल के विरोध में कविता लिखने के लिए कहा ! मैंने उनसे पूछा—‘श्रीमान जी, यदि आम चुनाव में किसी पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिले तो बिना अन्य दूसरे दलों को अपने में मिलाये सरकार कैसे बन सकती है ? संविधान की धारा के अनुसार तो ऐसी अवस्था में दल बदल ही एक उपाय दिखता है। आप इसकी शिकायत क्यों करते हैं ?’ नेता जी चुप होते दिखाई पड़े तो मैंने पलट कर पूछा कि ध्रुवीकरण ध्रुवीकरण की रट लगाकर जनता पार्टी का राज्य तो देख लिया गया। क्यों न संविधान की इस धारा में संशोधन करके देश में केवल दो ही या तीन राजनैतिक पार्टियाँ रहने दी जाएँ ताकि शासन व्यवस्था नियमित सबल और सुदृढ़ हो तथा क्रमानुसार दूसरी तीसरी शक्तियों को भी देश सेवा का अवसर मिलता रहे। नेता जी ने मेरे इस विचार का घोर विरोध किया और अनेक उन विदेशी राज्यों का उदाहरण गिनाने लगे जहाँ बहुत सी राजनैतिक पाखटियाँ हैं। उनको इस बात का बेहद खौफ था कि ऐसा हो जाने पर तो हमारी पार्टी शायद ही मान्यता प्राप्त कर सके। ऐसी हालत में हमारी नेतागिरी कैसे चमकेगी। पाठक स्वयं विचार करें कि संविधान की यह निर्दोष धारा देश का कितना हित साधान कर रही है।

हित साधान ! भला यह तो सोचिये जिस महान देश की युग युग से अखण्ड भारत भूमि की समस्त जनता मतदान के चलते विभाजित रहेगी, वहाँ एकता कैसे बनी रहेगी ? वह देश कब तक अखण्ड रह सकेगा। कर्तव्य और अधिकार का सही ज्ञान जिस देश की जनता को न हो और जिस देश के रहनुमा प्रत्येक क्षण अपनी अपनी सुरक्षा के फेर में हों तथा अपनी औलाद एवं पीढ़ी दर पीढ़ी की व्यवस्था में संलग्न हो तथा वैभव विलास के अधम से अधम स्तर पर चढ़ते उतरते हों उस देश की अखण्डता और एकता का प्रश्न कितना हास्यास्पद और विडम्बित है ? वोट की राजनीति ने इस देश को दूसरे देश से अलग कर डाला है। गनीमत है कि सदियों से दबाया हुआ यह देश सही ढंग से उभरना नहीं जानता। यदि मात्र बापू के ही रास्ते पर यह अपनी नागरिकता के बल पर अपने पैरों पर उठ खड़ा होता तो शासन की ओर से होने वाले अत्याचार नहीं होते। यह तभी हो सकता है जब जनता का चरित्र बल ऊँचा हो। जब जनता ही गिरी रहेगी और स्वयं खुदगर्जी के दल-दल में फँसी रहेगी तो उसका उद्धार नहीं हो सकता। बाहर से जो भी शक्ति आएगी उसे दबाएगी। उस पर दया का नाटक खेलेगी और अपमान का घूँट पीते हुए घुट घुट कर मर जाने के सिवा ऐसे प्रशासन तंत्र से उसे कोई सहायता नहीं मिलेगी, जो सदा अपने ही स्वार्थ चक्कर में रहेगा वह दूसरों का भला क्या करेगा ?

एक दर्द यह रह गया राष्ट्र गान का, जो सिवा सिर दर्द के और कुछ नहीं है। बहुसंख्यक जन यह बात जानते हैं कि हमारा राष्ट्रगान एक विदेशी अधिनायक का प्रशस्ति गान है। वन्दे मातरम् के सम्बन्ध में भी कहा जाता है कि यह गीत वंगभूमि की ही प्रशस्ति का द्योतक है। सुजलाम् सुफलाम् मलयज शीतलाम् वगैरह वंगभूमि की ही प्रकृति का चित्रण करते हैं। सबसे बड़ा आरोप है कि इसमें मूर्तिपूजा की भावना है जो इस देश की विशिष्ट जनता की भावना के विरुद्ध है। कितने दुख की बात है कि जिस गीत को आगे कर हमने राष्ट्रीय संग्राम जीत लिया आज उसी की टीका टिप्पणी में हम अपना और दूसरों का भी दिमाग खराब करते हैं। इस गीत की एक ही अर्द्धाली पूरे देश को अपने पैरों पर खड़ा कर सकती है—



के बोले माँ तुमि अबले बहुबलधरिणीम नमामि तारिणीम,
रिपुदलवारिणीम मातरम्, वन्दे मातरम् ।

निस्सन्देह 'जन गण मन अधिनायक' हमारा राष्ट्रगान हो गया है। हम इसे गाते हैं। भाव में आने की मुद्रा भी बनाते हैं। मगर हृदय भीतर ही भीतर अपना सही राष्ट्रगीत दूढ़ता रहता है। एक कमी महसूस होती रहती है।

हमारी समझ में यह नहीं आता है कि जब हम यह राष्ट्रगीत गाते हैं तो अपने राष्ट्रगीत में हम क्यों पाकिस्तान प्रान्त का नाम लेते हैं। एक बार इस दृष्टि से गीत की पहली पंक्ति देखिये तो सही—'पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा द्रविड़ उत्कल बंग' क्या सिन्ध अपने गणतन्त्रीय भारत का कोई प्रान्त है या पाकिस्तान का। यह तो जिन्दा मक्खी गले में उतारना जैसा है। ऐसी गलती तो हमोर मनीषी कर नहीं सकते। 'जरूर कोई बात है' तभी तो इसे चालीस वर्षों से हम दुहराते चले आए हैं। खैर, इससे दिल में कोई खंजर नहीं चुभ जाता। वैसे नहीं तो ऐसे भी अगर पाकिस्तान के किसी प्रान्त पर हमारा हक जाहिर हो तो अच्छा ही है। यूँ पूरा पाकिस्तान सन् 1947 से ही भारत से अलग हैं। जिस भूमि पर आज पाकिस्तान है, वह युग युग से भारत का अविच्छिन्न अंग रहा है। धन्य है यह हमारा राष्ट्रगीत जो एक बार इस तथ्य पर विचार करने का हमें अवसर प्रदान करता है।

एक सवाल और बड़ा अजीब उभर आया है। महात्मा गांधी सन् 1948 में 30 जनवरी को नाथूराम गोडसे की गोली से मारे गये थे सन्ध्योपरान्त प्रार्थना सभा में। सम्भवतः 6 या 7 बजे। गांधी जी मानवता की बलिवेदी पर शहीद हो गए। निस्सन्देह संसार उनको शहीदे आजम स्वीकार करेगा। सभी शहीदों की आत्मा की शान्ति के लिये 30 जनवरी को 11 बजे दिन में सभी स्कूल, कालेजों सभी संस्थाओं में दो मिनट का मौन रखा जाता हैं। पाठक बन्धुओं से निवेदन है कि सोचें कि प्यारे बापू 30 जनवरी को सन्ध्या समय 7 बजे के पहले तक जीवित थे। किसी को भी ऐसी आशंका नहीं थी कि एक क्षण बाद ही महाप्रलय उपस्थित हो जायेगा और सन्त शिरोमणि बापू का शरीर छूट जाएगा। बापू ने भी इस घृणित घातक कर्म की कल्पना नहीं की होगी। मगर होनी होकर रही और बापू स्वर्गधाम चले गये 30 जनवरी सन् 1948 को 7 बजे सन्ध्या समय। मगर हम उनकी आत्मा की शान्ति के लिए उनकी मृत्यु के आठ घण्टा पहले ही दो मिनट का मौन धारण कर लेते हैं जबकि उस समय बापू जीवित थे। हम उनको जीते जी मार डालने का पाप कर्म किस हौसले से करते हैं, गौर करने की बात है। अगर यही मौन 31 जनवरी को 11 बजे रखा जाता तो क्या हानि थी। कोई आश्चर्य नहीं कि बापू को शरीर से ही नहीं उनके विचारों एवं सिद्धान्तों से भी हमने पूर्ण रूप से बापू का, बापू युग का, रामराज्य के सपना का अन्त कर दिया है।

भारत का विभाजन, स्वाधीनता दिवस संविधान की धारा पक्ष और प्रतिपक्ष, दल-बदल, राष्ट्रगान में सिन्धु प्रान्त का उल्लेख जो पाकिस्तान में है, बापू के निधन पर दो मिनट का मौन संकेत करते हैं कि हमारी मानसिकता किस रूप में राष्ट्रीयता, अखण्डता, एकता और स्वाधीनता की भावना एवं एतत् सम्बन्धी विचार को ग्रहण करती है। अगर हम अपने संकल्पों के प्रति आस्थावान होते तो हमारी ऐसी दशा कदापि न होती—

लगाकर पेड़ इमली का कहें वो आम खाएँ हम,
भले संकल्प दूषित हों चलो पिण्डा पराएँ हम,
हुलस कर कर्णधरों को चलों माला पिन्हाएँ हम ।



हिन्दू राज्य : एक विडम्बना

हम हिन्दू हैं, हिन्दुस्तान के रहने वाले हैं, हमारी भाषा हिन्दी है। यह भाव-विचार मन में आते ही हम आत्म ग्लानि से भर जाते हैं। हम कौन थे, क्या हो गये, अब और क्या होंगे अभी। कवि वाणी हमारे जिह्वाग्र पर कभी प्राण वंशी की ध्वनि पर थिरकती रहती थी कि “जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभियान है वह नर नहीं नर पशु निरा है और मृतक समान हैं।” वसुधैव कुटुम्बम् के मंत्र से अभिषिक्त भारतवर्ष जहाँ आज राष्ट्रीयता, अखण्डता और एकता के मोरचे पर जूझ रहा है वहीं अपने भाई बन्धु शत्रु बने पूरे देश को तोड़ने पर आमादा हैं। सबका एक मात्र मिशन है हिन्दू और हिन्दुत्व का विनाश। जब तक हिन्दू रहेंगे तब तक हिन्दुत्व रहेगा तब तक भारतवर्ष राष्ट्र नहीं कहा जा सकता है, यह एक साम्प्रदायिक देश कहा जाएगा। सबकी यही भावना है। यहाँ पर हिन्दू, मुसलमान और इसाईयों को गले लगाना चाहता है तो हिन्दू समाज को तोड़कर उसके विरुद्ध हरिजन और सिक्ख को खड़ा किया जाता है। जब हिन्दू-हिन्दू ही आपस में युद्ध तत्पर होने लगते हैं तो आसानी से उसके ऊपर प्रहार करके उसको तोड़कर मिटा देने का षडयन्त्र गरम हो उठता है। शासन की ओर से घोर विवशता है मर्यादा के नाम पर हिन्दू समाज पंगु है क्योंकि उसके पास अपेक्षित शक्ति नहीं है। पक्ष निरपेक्ष, विपक्ष सापेक्ष।

हिन्दू समाज को तोड़ने का प्रयत्न नया नहीं बहुत पुराना है। वर्णाश्रम व्यवस्था और वेद पर प्रहार बौद्धकाल से ही शुरू है। धर्मिक जटिलताओं एवं यज्ञों-कर्म काण्डों को बहुलता, जाति प्रथा और पुरोहित वाद की प्रतिक्रिया स्वरूप चावार्क ने खीझकर और ऊबकर घोर भौतिकवादी सिद्धान्तों का प्रचार उपनिषदोत्तर काल में ही शुरू कर दिया था। जब तक जीयो मौज करो, कर्जा काढ़ो, घीव पियो। बौद्ध धर्म फिर भी भारतीयता का एक अविच्छिन्न रूप था, भारतीय दर्शन के संगत ही इसके भी विचार थे, किन्तु वेद और ईश्वरवाद के विरुद्ध होने के कारण भारत में नहीं भारत के बाहर यह बहुत लोकप्रिय हुआ। चार-पाँच सौ वर्ष चलकर यह धर्म भारत में क्षीण हो गया और फनः वेद धर्म की पताका पूरे भारत में लहरा उठी। आदि गुरु शंकराचार्य जी महाराज ने भारत की सीमाओं पर चार धामों की स्थापना की। वेदभूमि भारत की अखण्डता अक्षुण्ण रही।

मौर्य वंशीय सम्राटों ने भी धर्म के क्षेत्र में कोई छेड़-छाड़ नहीं की। शुंग वंश के आन्ध्र सातवाहन वंश के कण्व वंश के राजाओं के शासन काल में तथा दक्षिण भारत में सर्वत्र वैदिक धर्म का बोल-बाला रहा। गुप्त वंशीय सम्राटों के शासन काल में इसकी विजय पताका विदेशों में भी लहरा उठा। जितने विदेशी आक्रमणकारी इस देश में आये वे या तो परास्त होकर या कुछ वर्ष शासन कर यहाँ से चले गये या यहाँ की मिट्टी और हवा में गल पच गये और हिन्दू समाज के अंग बन गये। यूनान, मिश्र, रोम सब मिट गये जहाँ से, मगर वेदभूमि भारत अपनी अखण्डता में यथापूर्व गौरव-मण्डित बनी रही। यह स्थिति सम्राट हर्षवर्द्धन के समय तक थी।

किन्तु इतिहास की दृष्टि से घोर अन्धकार का युग भी आ गया जब तुर्क और यवन आततायियों द्वारा पूरा भारतवर्ष रौंद डाला गया। असंख्य देव मन्दिर तोड़े गये। मूर्तियों का अपमान हुआ। हिन्दुओं को काफिर समझ कर मारा गया। सहिष्णुता की यह चरम सीमा थी कि हिन्दू समाज ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। इस युग में जितने सामन्तीय नरेश थे सब आपस में लड़ते रहे। ऐसे में आक्रमणकारियों ने अपना राज्य कायम कर लिया और हिन्दुस्तान हिन्दुत्व तथा हिन्दू सदा के लिए गुलाम बन गये।



जगत मुकुट जगदीश दुलारा 'जय जय प्यारा जग से न्यारा, जय जय प्यारा भारत देश'। धन्य है कवि की वाणी। "जो भरा नहीं है भावों से, बहती जिसमें रस धार नहीं / वह हृदय नहीं है पत्थर है, जिसमें स्वदेश का प्यार नहीं।" अखिल भारतीय भूमि खण्ड के कोने कोने से सन्त महात्माओं का आविर्भाव हुआ जैसे कि स्वयं वेद भगवान ही भारतीय धरती से उग आए हों। इनके आशीर्वाद से और प्रवचन एवं वाणी के प्रसाद से भारतीयता विलुप्त नहीं होने पाई। आततायी अपनी करते रहे भारतवर्ष अपना करता रहा। आततायी आपस में ही लड़ कट कर मर बिला गये और देश फिरंगियों का गुलाम हो गया। फिरंगियों ने पूरे देश पर शासन करने के लिए देश को विभिन्न वर्गों में बाँट दिया। आपसी लड़ाई देश में बनी रही। फिरंगी की प्रधानता सबके ऊपर विराजती रही। सर्व साधारण जन समुदाय इस तथ्य से भलि भाँति अवगत है। एक बात यह जरूर गौर करने की है कि हिन्दुओं ने यदि साथ न दिया होता तो ये विदेशी आततायी यहाँ से कभी उखाड़ कर फेंक दिये गये होते। सामन्तवादी योद्धाओं ने यानी फ्यूडल लार्ड्स ने देश को गुलाम बना दिया।

किन्तु हमारे धर्म गुरुओं की दृष्टि भारत की इस दुर्बलता की और गयी। मुहम्मद तुगलक की हुकूमत के जमाने में जबकि पूरे देश में अराजकता फैली हुई थी जिसको दबाने के लिए मुहम्मद तुगलक पागल जैसा एक स्थान से दूसरे स्थान तक मारा-मारा फिरता रहा। क्षेत्रीय शक्तियों ने अपना सिर उठाया और एक के बाद एक पूरे हिन्दुस्तान में अनेक नये-नये स्वतंत्र राज्य कायम होने लग गये। स्वामी माधवाचार्य विद्यारण्य ने दो हिन्दू सामन्त सरदारों हरिहर और बुक्का को दक्षिण भारत में हिन्दू राज्य की स्थापना का मंत्र दिया। सुयोग्य शिष्यों ने उनके आशीर्वाद से इस कार्य में सफलता पाई और शक्तिशाली, वैभवशाली, समृद्धिशाली हिन्दू राज्य दक्षिण भारत में स्थापित हो गया जो लगभग दो सौ वर्षों तक शान से चलता रहा। विजय नगर राज्य के पड़ोस में ही एक मुसलिम राज्य भी एक साथ ही कायम हुआ बहमनी वंश के नाम से। दोनों राज्यों में जम कर युद्ध होते रहते थे। हार-जीत होती रहती थी। दोनों राज्य सम्पन्न और शक्तिशाली थे। बहमनी वंश के शासक बड़े क्रूर, ऐयाश और धर्मान्ध थे। बहमनी राज्य पाँच टुकड़ों में बँट गया मगर विजय नगर राज्य में ऐसी कोई कमजोरी नहीं आने पाई थी। यद्यपि यहाँ के राजा राजमद में चूर और स्वेच्छाचारी तथा घमण्डी होने लगे थे। तात्पर्य कहने का यह है कि दोनों ही गिरावट की हालत में थे। ऐसी स्थिति में विजय नगर राज्य के प्रधानमंत्री रामराव ने बहमनी वंश के राज्यों पर हमला कर दिया और एक एक करके उन्हें परास्त किया, अपमानित भी किया। फलतः पाँचों बहमनी राज्यों ने एक मत और एकजुट होकर विजय नगर राज्य पर हमला किया और सन् 1565 में तालीकोट के युद्ध में रामाराव को बुरी तरह परास्त किया तथा विजय नगर राज्य का पूर्ण विनाश कर डाला, तहस-नहस कर दिया। विजय नगर राज्य की गौरवश्री सदा के लिए मिट गयी। प्रधानमंत्री रामराव की अदूरदर्शिता, उदण्डता, घमण्ड के कारण विजय नगर राज्य को चौपट होने में देर नहीं लगी और हिन्दू राज्य कायम करने का सपना तथा विदेशियों को भारत भूमि से निकाल बाहर करने का इरादा हमेशा के लिए खत्म हो गया। गुरु आदेश को भुला बैठे थे ये लोग। ऐश्वर्य मद में डूब गये थे ये लोग। अपने लक्ष्य से भटक गये थे ये लोग। पुनः अपनी औकात पर आ गये ये लोग। मुसलिम प्रभुता निर्विरोध आगे बढ़ती गयी।

मदान्ध हिन्दू राज्यतंत्र हारा था, हिन्दुत्व नहीं हारा था। प्रबल प्रतिद्वन्दी के रूप में पूरे देश में इस्लामी संस्कृति फैल गयी थी। मन्दिर और शिवाले तोड़-तोड़कर मस्जिदें बना ली गयीं। हिन्दुओं पर जुल्म वरपा होते ही रहे। मुगलों की हुकूमत तुर्कों के बाद कायम हुई। बाबर, हुमाँयू,



जहाँगीर, नूरजहाँ और शाहजहाँ के बाद औरंगजेब की हुकूमत पूरे हिन्दुस्तान पर छा गयी थी। सिक्खों के गुरुओं को तलवार के घाट उतारा जा रहा था। उनसे जुरमाने वसूल किये जा रहे थे। हिन्दू धर्म के नाम पर उनकी औलाद दीवारों में चुनवा दी जा रही थी। गुरु गोविन्द सिंह ने फिर भी हिम्मत नहीं हारी। सिक्ख कहलाये जाने वाले हिन्दुओं का उन्होंने जबरदस्त संगठन किया। पाँच 'ककार' धारण करने का व्रत लिया और पूरी ताकत से गुरु गोविन्द सिंह साहब ने मुगलों पर हमला बोल दिया हिन्दुत्व की रक्षा के लिये। जाटों और सतनामियों ने अलग से धर्म के नाम पर आलमगीर औरंगजेब के छक्के छुड़ा दिये थे। बुन्देल खण्ड में छत्रसाल ने अलग से औरंगजेब को नाकों दम कर रखा था। ऐसे में दक्षिण भारत में समर्थ गुरु रामदास जी महाराज के आदेश से शिवाजी ने हिन्दू राज्य की स्थापना कर और देश से बाहर मुसलमानों को निकाल बाहर करने का अभियान छेड़ दिया। पागल मुहम्मद तुगलक की तरह आलमगीर औरंगजेब अपने जीवन के अन्तिम बीस वर्षों तक दक्षिण भारतवर्ष में शिवाजी महाराज एवं उनके उत्तराधिकारियों से लड़ता रहा और अन्त में औरंगाबाद में अपने किये गये पाप कर्मों के प्रायश्चित की आग में झुलस कर तड़प कर मर गया। यहीं औरंगाबाद की जमीन में उसकी मिट्टी दफन कर दी गयी तथा भारतवर्ष में एकबार फिर हिन्दू राज्य की स्थापना का सपना चमक उठा। मरहटों के नेतृत्व में हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दुस्तान का प्रभुत्व पूरे देश पर कायम हो गया। शिवाजी महाराज ने जो शासन व्यवस्था स्थापित की उसमें पेशवा प्रधानमंत्री को असीमित अधिकार थे जो मात्र शक्तिशाली राजा के होने पर नियंत्रित रखे जा सकते थे। दुर्बल उत्तराधिकारियों के शासन काल में पेशवा ही सर्व शक्तिमान कूट स्थानीय व्यक्ति हो उठा था। अतः शिवाजी के बाद पेशवाओं की हुकूमत चलती रही। राज सिंहासन पर राजा महज एक नुमाइशी चीज था। मुगल बादशाह भी बल के इस दौर में चारों तरफ की ठोकड़ों में काफी चिकना साफ और सुथरा हो चुका था। उसे कभी अहमदशाह अब्दाली अपनी और खींचता तो कभी पेशवा अपनी ओर तो कभी वह खुद ब खुद अंग्रेजों की गोद में जा गिरता। लग रहा था कि मुगलों का सफाया होने ही वाला है। ऐसे में तालीकोट के युद्ध की भांति सन् 1763 में पानीपत का युद्ध लड़ा पेशवा ने विजय नगर के ही रामाराव के समान अपने बल का जरूरत से ज्यादा अन्दाज लगाकर। अगर यह युद्ध पेशवा जीत गया होता तो निस्सन्देह दिल्ली हिन्दू साम्राज्य की राजधानी हो गयी होती। घमण्डी, अदूरदर्शी स्वच्छन्द पेशवा ने इस युद्ध का निर्णयक महत्व नहीं समझा। राजपूतों सिक्खों और जाटों को भी उसने अपने अनुकूल नहीं किया। स्वभावतः ही नहीं मजबूरन दिल्ली सम्राट शाहआलम आक्रमणकारी अहमदशाह अब्दाली के पक्ष में हो गया और पेशवा की वह करारी हार हुई कि हिन्दू राज्य की स्थापना का सपना चूर-चूर हो गया। कहते हैं कि एक लाख से भी ज्यादा की फौज और नामी नामी सूरमा सबके सब गाजर मूली की भाँति काट दिये गये। पेशवा उस समय भी पूना में अपने ढंग से राज्य करता रहा, मगर उसका मराठा राज्य भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। ग्वालियर, नागपुर, इन्दौर और पूना सिन्धिया भोंसले, होल्कर और पेशवा ने स्वतंत्र राज्य कायम कर लिया जिनको एक-एक कर अंग्रेज बहादुर ने हराकर अपने राज्य में मिला लिया। मरहटों का हिन्दू राज्य खत्म हो गया।

अंग्रेजों के शासन काल में हिन्दुत्व ने एकबार फिर सिर उठाया। आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती आदि विश्व प्रसिद्ध मनीषियों और सन्तों ने हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दुस्तान की गरिमा का विजय-शंख फूँका और समस्त संसार ने इस गरिमा के आगे सिर झुकाया। ऐसा लग रहा था कि भारत एक बार फिर अँगड़ाई लेकर तन



कर खड़ा होगा और समस्त विदेशी प्रभुत्व वह अपनी भूमि से निकाल बाहर करेगा। अंग्रेज बहुत समझदार जाति है। उसने भारतीय वायु मण्डल में होने वाली इस नयी जागृति को भाँप लिया और स्वयं ह्यूम साहब ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में कर डाली। पहले तो सुधारवादी प्रतिगामी शक्तियाँ ही इसका संचालन करती रहीं। इसमें देश के सभी वर्गों के गणमान्य नेता या विचारक सम्मिलित हो गये। महात्मा गाँधी के सम्मिलित होने पर कांग्रेस कुछ अधिक सक्रिय हो उठी तथा हिन्दू राज्य की स्थापना वाले विचार से हट कर राष्ट्रीय स्तर के व्यक्तियों के समीकरण में रुचि रखने लगी। कांग्रेस में दो दल हो गये—1 नरम दल 2 गरम दल और भी अनेक विचार के मानने वाले भी इसमें सम्मिलित होकर देश के भविष्य की कल्पना में संलग्न हो गये जैसे डोमिनियनस्टेटस की माँग करने वाले अथवा कौंसिलों में प्रवेश के जरिये सुधारवादी विचारक। कुल मिला जुलाकर निष्कर्ष यह निकला कि हिन्दू राज्य कायम करने की और विदेशियों के चंगुल से भारत को पूर्णरूपेण मुक्त करने की भावना खटाई में पड़ गयी। महात्मा गाँधी का साधु स्वरूप राम और राम राज्य के साथ उनका तादात्म्य, वैष्णव जन ते तेने कहिये की उनकी प्रार्थना, त्याग और तप का जीवन, सादगी में आस्था, गरीबों, किसानों, ग्रामोद्योग, चरखा आदि से ममत्व देखकर हिन्दूपने का बोध होता रहता था मगर जिन लोगों के बीच रहकर वह भारतीय सपने को साकार करने में संलग्न थे उन पर सन्देह हुए बिना नहीं रहता था। क्रान्तिकारी देश के कोने कोने से विदेशी सत्ता को हिंसा के द्वारा उखाड़ फेंकने को व्यग्र थे। वीर सावरकर भी महाराष्ट्र की एक ऐसी विभूति थे जिन्होंने भारत में हिन्दू राज का सपना देखा था। किन्तु वह समझ गए थे कि राष्ट्रीयता की कृत्रिम भावनाओं का यह कच्चा धागा टूट-फूट जायेगा तथा देश से विदेशी प्रभुता कभी समाप्त नहीं होगी। नेताजी सुभाष चन्द्र बसु का भी विचार यद्यपि पूर्णरूपेण यह नहीं था फिर भी गाँधी जी के साथ लगे लोगों का जमघट उनको सन्देह में डाल देता था अन्यथा उनके अध्यक्ष चुने जाने पर गाँधी जी के एक वक्तव्य से प्रभावित होकर पूरी कार्य समिति इस्तीफा क्यों देती और नेताजी सुभाष चन्द्र बोस से असहयोग करने को क्यों तत्पर हो उठती।

वीर सावरकर ने हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दुस्तान की रक्षा के लिए हिन्दू महासभा नाम की एक संस्था कायम की जिसके जवाब में मुसलमानों ने मुहम्मद अली जिन्ना के नेतृत्व में मुसलिम लीग नामी एक साम्प्रदायिक संस्था अलग से कायम की। अगर कांग्रेस बीच में न होती तो अंग्रेज बहादुर इन दोनों संस्थाओं से निपट लिये होते। मगर निपटना भी क्या था जब कि मुसलिम लीग उन्हीं के इशारे पर कायम की गयी थी फूट डालो और राज करो की नीति से। बाद की घटनाओं से सभी अवगत हैं कि देश का विभाजन हो गया। धर्म के नाम पर ही तो यह बँटवारा हुआ मगर राष्ट्रीयता के नाम पर काफी संख्या में मुसलमान भारत की सन्तान के रूप में यहाँ रह गये। कांग्रेस ने अंग्रेजों से समझौता किया मुसलिम लीग को लेकर पर पता नहीं क्या समझकर उन्होंने हिन्दू महासभा को पूछा तक नहीं। यह समझौता वार्ता कितनी अधूरी और कितनी एकांगी है। दुर्भाग्य की बात सबसे बड़ी यह हुई कि कायरतापूर्ण ढंग से पूज्य बापू की इसी असन्तोषजनक वातावरण में हत्या हो गयी। अंग्रेज चले गये मुसलमान भी चले गये किन्तु अंग्रेजियत और तथाकथित राष्ट्रीय मुसलमानों को भारत में छोड़कर ताकि बचा-खुचा भारत भी टुकड़े टुकड़े होकर दुनिया के नक्शे से हमेशा के लिये मिट जाए।

हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दुस्तान ने प्रत्येक अन्धकार पूर्ण युग में अपने अस्तित्व को ढूँढ़ते हुए अपना सिर उठाया है। तुर्की सल्तन के जमाने में विजय नगर राज्य, मुगल सल्तनत के जमाने में मरहटा राज्य और कांग्रेसी युग में जनसंघ अथवा भारतीय जनता पार्टी हिन्दुत्व की रक्षा के



लिये ही स्थापित हुई। किन्तु सफलता कभी भी इन्हें प्राप्त नहीं हुई। कारण स्पष्ट है स्वच्छन्द आचरण। विजय नगर राज्य में रामाराव की मूर्खतापूर्ण नीति, पेशवाओं के राज्य में पेशवा की पृथक्ता वादी नीति। कांग्रेसी युग में भी जनसंघ या भाजपा के पैर जमते नहीं दिखाई दिए जबकि इनका विश्वास है कि देश का सही अर्थ में प्रतिनिधित्व इनकी ही पार्टी करती है। फिर भी कारण क्या है कि देश उनका साथ नहीं देता। आश्चर्य है।

कहीं ये भी अलगाववादी बीमारी के रोगी तो नहीं है ? कांग्रेस की कृत्रिम राष्ट्रीयता की भावना अब पूर्णतया नंगी हो चुकी है अन्यथा पंजाब में निर्दोष खून की नदी नहीं बहती और बाबरी मस्जिद का प्रश्न रामजन्म भूमि के मुकाबले खड़ी नहीं होती। 30 मई 1987 को दिल्ली में वोट क्लब पर दो लाख मुसलमानों की भीड़ की अगुवाई में जामा मस्जिद के इमाम बुखारी साहब और जनता पार्टी के सदस्य शहाबुद्दीन साहब के खूनी कलाम सुनने को नहीं मिलते कि राजीव गाँधी सम्मिलित जाओ। हम तुम्हारी कोठी में आग लगा देंगे, तुम्हारी टाँग तोड़ देंगे। दो लाख का यह समुद्र जब उफान लेगा तो वह तुम्हें नेस्तनाबूद कर डालेगा। ताकतवर से अपनी माँ के कातिल के साथ कोई समझौता करता है। हमलोगों को अपनी ताकत बढ़ानी चाहिये। बगैरह—बगैरह।

सोचने की बात है कि इस तरह की तकरीर वे दे रहे हैं जो भारत के नागरिक हैं। जिस देश की आबोहवा में वे पल रहे हैं उसी देश को बरबाद करने का वे ख्वाब देख रहे हैं। अंग्रेजों की लगाई आग में झुलसी अधजली देह की ताकत देखिए। पता नहीं कौन सी दूसरी ताकत है जिसके बल पर भारतीय मुसलमान तैश में आकर प्रलय करते हैं। रह गयी बात हिन्दू, हिन्दुत्व और हिन्दुस्तान की, तो आदि काल से ही इतने बड़े—बड़े तूफान देखे हैं किन्तु यह भारत का अमर प्रदीप है। यह राजा राम की धरती है। पानीपत के तीसरे युद्ध में ही पूर्ण लाभ हो गया होता। धन्य मानिए पूज्य बापू को वरना देश का विभाजन नहीं हुआ होता और यदि हुआ भी होता तो वोट क्लब पर इस प्रकार की तकरीर करने की मानसिकता वाले लोग भारत में रह भी नहीं गये होते।



धर्म प्राण भारत

भारतवर्ष आदिकाल से ही एक धार्मिक देश है। इसका नाम ही है वेद भूमि भारत। धार्मिक स्वतंत्रता इस देश की अपनी निजी विशेषता है। धर्म युद्ध इस देश में आदिकाल से लेकर आज तक कभी नहीं हुआ। अध्ययन, मनन और चिन्तन इसकी परम्परा है। इस देश की मिट्टी दार्शनिकता से सिक्त है। इसीलिए बौद्धिक विकास के साथ-साथ आध्यात्मिक विकास का क्रम कभी अवरुद्ध नहीं हुआ। वैदिक विचारधारा में ही समय समय पर नवीन विकसित विचार धाराएँ मिलती गयी, जिस कारण सूत्रों का युग, स्मृतियों का युग, संहिता का युग, उप-निषदों का युग, फराणों का युग, काव्यों का युग, षट-दर्शन का युग, भाष्यों का युग एक के बाद एक का आर्विभाव होता गया बिना किसी भौतिक संघर्ष के। जैन धर्म और बौद्ध धर्म को, सनातन धर्म और आर्य समाज को ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज को सब प्रकार के मत-मतान्तरों को पनपने फूलने और फलने का स्वतंत्र वातावरण सर्वदा बना रहा। युग पर्यन्त युग आये और गये किन्तु धार्मिक विश्वासों को लेकर भारत में कभी युद्ध नहीं हुआ। किन्तु किसी भी कारण से जब मानवता पर संकट आया तो इसकी रक्षा के संग्राम अवश्य हुए और आततायियों को समूल उखाड़ फेंका गया। यह काम धर्म के नाम पर नहीं हुआ, व्यवस्था के नाम पर हुआ क्योंकि परमात्मा की सन्तान को जीवित रहने का पूर्ण अधिकार है। यही मानव धर्म है। जियो और जीवित रहने दो। इसके विरुद्ध जो भी खड़ा होगा उससे निपटना ही पड़ेगा। यही जीवन संघर्ष है। जीवन संघर्ष से भारत कभी विमुख नहीं हुआ। यही धर्म है। संघर्ष से पीछे न हटना ही वीरता है। भारत इसी कारण धर्म भूमि है तो वीर भूमि भी है। राम-रावण युद्ध या कौरव-पाण्डव युद्ध प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानि भवति का यही वास्तविक स्वरूप है। भारतवर्ष शान्ति प्रिय, व्यवस्था प्रिय, धर्मिक और वीर भूमि है। धर्म के संकीर्ण अर्थ से यह देश आज से नहीं आदि काल से ही निरपेक्ष है जबकि यह पूर्ण रूपेण धर्म प्राण एवं धर्मभीरु देश है।

धार्मिक स्वतंत्रता सहिष्णुता नहीं इस भूमि की यदि विशेषता न होती तो इसाई मिशनरियाँ यहाँ दिखाई नहीं देती और पारसी अथवा इसलाम भी पनपने नहीं पाता। कितने सुखद आश्चर्य की बात है कि इसलाम जब अपने तख्त से जरा भी झुककर इन्सानियत की नजर से देखता है तो देश में हँसी-खुशी का माहौल बन जाता है। सूफियों के अन्दाज वेद वाणी बन जाते हैं और उस समय जब मजहब मजहब के गले मिलता है जो जन्नत का नजारा साफ नजर आने लगता है। फिर भी ये मजहबी झगड़े किस बात का इशारा करते हैं और कातिलाना कलाम किस जंग की तैयारी के ऐलान हैं। समझदारी किस दोजख का तरफदार बन जाती है। क्या मजहब को सियासत और खुदगर्जी के चश्मे से देखना बहुत जरूरी है ? काफिरों के सिर काटकर उस पर मजहब का परचम लहराने, मन्दिर तोड़ने, मूर्तियों को अपमानित करने से अगर रूह की शान्ति मिलती हो और इसी दिन के लिए दंगे फसाद करने-कराने को जेहाद कहा जाता हो तो बात ही और है।

सभी हिन्दू सम्राट धार्मिक होते हुए मानवतावादी रहे हैं और धर्म के नाम पर घृणा के वातावरण से सर्वथा दूर भी। सम्राट अशोक स्वयं भले बौद्ध हो गया था किन्तु मानवतावादी सिद्धान्तों का ही उसने राजकीय स्तर पर प्रचार किया था ताकि उसकी प्रजा लोक में और परलोक में सुख-शान्ति प्राप्त करे जो मानव जीवन का लक्ष्य है। कोई सम्राट शैव धर्म मानता था कोई वैष्णव या भागवत हो जाता था किन्तु प्रजा पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। स्वयं सम्राट अकबर एक धार्मिक राजा भी था जिसने फतेहपुर सीकरी में धर्म के स्वरूप को भली-भांति समझने के लिए इबादत खाना बनवाया था। सभी सम्प्रदायों के आचार्यों को अपने



राजभवन में आमंत्रित करता था। उनसे उनकी बहस—मुवाहिसा होती रहती थी। उसने खुद दीन—इलाही धर्म चलाया था मगर किसी को उसे मानने पर मजबूर नहीं किया था। बंगाल के सुल्तान हुसेन शाह ने सत्यवीर नाम से अलग सम्प्रदाय कायम किया था ताकि हिन्दू और मुसलमान मिल जुलकर प्रेम से रहें। शेरशाह अपनी रियाया को पुत्रवत् मानता था और उनको सुखी बनाने की चिन्ता में हर घड़ी लगा रहता था। इसके लिए नये—नये कानून बनाता था। जनहित में किये गये उसके महान कार्य आज भी हमारी रक्षा करते हैं। सुल्तान बलवन को कठोर शासक माना जाता है मगर वह कितना न्यायप्रिय अनुशासन का पाबन्द, शान्ति और सुव्यवस्था का संस्थापक था, यह मूल्यांकन से ऊपर की बात है। रजिया का ढाई वर्षों का शासनकाल भी इसी दृष्टि से सफल और तारीफ के काबिल रहा, इतिहास गवाही देता है। यह बात दूसरी है कि तुर्क सरदारों को किसी औरत का तख्त पर बैठना रास नहीं आया, अल्तमश अपने जमाने की खूबियों से उपर नहीं था, फिर भी न्याय शक्ति सुव्यवस्था कायम करने में कम ही सुल्तान उसके जैसे दिखते हैं। इतिहास में हुमायूँ जैसा शरीफ इन्सान, नेक इन्सान, वफादार और खादिम बादशाह इतिहास में ढूँढे नहीं मिलेगा। वह एक सांस्कृतिक व्यक्ति था, मानवता की भावना से भरपूर सच्चा और विश्वासी। भारत की जनता सम्राट अकबर को दिल्ली श्वरोवा जगदीश्वरोवा मानती थी महज उसके मानवतावादी गुणों के कारण। क्या तवारीख में ऐसे सम्राटों, ऐसे सुल्तानों और ऐसे बादशाहों की तारीफ नहीं की जाती है ?

फिर भी कुछ ऐसे शासक हुए हैं जिनकी कमजोरियों ने देश को और देश की जनता को खूब तबाह किया है। ऐसों की जब तारीफ होने लगती है तो बेहद ताज्जुब होता है। औरंगजेब ने अपने पिदर जान को तहखाने में कैद कर रखा था। उसको पीने के लिए पानी तक का इन्तजाम नहीं था। उसने अपने लायक बरखुरदार को जेल से लिखा—

आफरी बाब हिन्दुवाँ बरबाब
मुरदारा मी दिहन्द दायम आब
अय पिसर तूँ अजब मुसलमानी
जइन्दाराब आब तरसानी

मैं उन हिन्दुओं की तारीफ करता हूँ जो मरे हुए बाप को भी पानी देते हैं। मगर ऐ बेटे, तू तो अपने जिन्दा बाप को भी पानी के लिए तरसाता है, प्यासों मार रहा है अजब मुसलमान है।

कहा जाता है औरंगजेब कट्टर सुन्ना मुसलमान था, नमाजी था, और दीन के मुताबिक ही वह समस्त कार्य करता था। किन्तु बाप का आह कहाँ जायेगी ? दीगर इन्सानों की बात जाने दे। वे तो काफिर हैं। उन्हें जीने का हक नहीं है।

धर्म के नाम पर झगड़ा भारत के लिए एक नयी बात है। वैदिक काल में या ऐतिहासिक काल में या हिन्दू शासन तन्त्र में धर्म के नाम पर कभी दंगा नहीं हुआ। मुसलिम हुकूमत के लाये जमाने में यों कि धर्म के नाम पर हिन्दुओं पर तरह—तरह के अत्याचार हुए मगर किसी भी धार्मिक दंगे फसाद का कोई रिकार्ड नहीं है। कुछ हिन्दू नृपतियों ने धार्मिक अत्याचार न सह सकने के कारण मुगल तख्त के खिलाफ जंग करने की कोशिश की। मसलन और सतनामी, जाट, सिक्ख, छत्रसाल और शिवाजी। मगर उनका यह सियासी मामला था। यह सब वैसा ही था जैसे कि राजाओं की आपसी लड़ाइयाँ हों। इनसे जनता को कुछ लेना—देना नहीं था।

धर्म के नाम पर जनता को उभारने का काम तो अंग्रेजी हुकूमत की देन है जिसने फूट डालो और शासन करो की नीति से यहाँ की जनता के बीच दीवालें खड़ी कर दीं और समय—समय पर दीवालों के आर—पार से गुर्गा—गुरी होती आई जिसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान का बँटवारा हो गया और हिन्दू मुसलमान एक दूसरे से अलग दिखाई देने लगे। जब कि हकीकत



इतिहास का दर्द



यह हो गयी थी हिन्दू-मुसलमान में पूरा भाई-चारा कायम हो चुका था और इनमें परस्पर रोटी-बेटी का सम्बन्ध भी होने लगा था। कभी कभार झगड़े भी होते रहते थे जैसे दो भाई आपस में लड़ते हों, मगर फिर आपस में मेलजोल जल्दी ही हो जाया करता था। अंग्रेजों ने शासन किया हमें बाँटकर और चले गये हमें काट कर। इसको न हिन्दू ने समझा न मुसलमान ने। एक ओर मुहम्मद अली जिन्ना दूसरी ओर पण्डित जवाहर लाल नेहरू । जो हिन्दुस्तान झगड़ा जानता ही नहीं केवल वीरता जानता है वह दंगा फसाद पर उतर आए यह हैरत की बात है, जो फिरंगियों की मेहरबानी है, क्योंकि कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्टों के बीच युगों तक खूनी जंग धर्म के नाम पर इंग्लैण्ड और यूरोप में होती रहती थी। साढ़े तीन सौ वर्षों तक जहाँ धार्मिक युद्ध जिसे बर्तनेकम कहा जाता है लड़ा जाता रहा वहाँ के लोग धर्म निरपेक्ष भारतीय गणतंत्र को चैन से कैसे रहने दें। मगर यह समझे कौन?





वेद भूमि भारत अखण्ड है ?

वेद भूमि भारत अखण्ड है। वेद अटूट है। भारत अखण्ड है। भारत के कण कण में वेद व्याप्त है। भारत का पश्चिमोत्तर प्रखण्ड सप्त सैन्धव कहलाता है। सप्त सैन्धव सात नदियों के बीच की भूमि को कहा गया हैं जिनके नाम हैं सिन्धु, झेलम, चिनाव, रावी, सतलज, व्यास सरस्वती। इसी भूमि खण्ड में आर्यों ने ऋग्वेद की रचना की। आर्य संस्कृति और सभ्यता सम्पूर्ण भारत में कुछ इस भाँति स्थापित हो गयी कि पूरा देश वैदिक रंग में सराबोर हो गया। वेद ही भारत की संज्ञा हो गया। ब्रह्मर्षि देश, ब्रह्मावर्त, मध्यदेश, आर्यावर्त, दक्षिणावर्त आदि इसके प्रखण्ड कहलाए। पुराणों में इसकी भौगोलिक इकाई का स्तवन यज्ञों, कर्मकाण्डों, संस्कारों, दैनिक प्रार्थनाओं, पूजा-पाठ, नाम-जप, ध्यान-सुमिरन, मनन-चिन्तन आदि के रूप में किया गया है। भारत की अखण्डता ही संकल्प है, इसकी रक्षा ही व्रत है, इसी के निमित्त व्यवहार ही मंत्र है। विचारों में भेद होने से विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। व्यवहार में यत् किंचित त्रुटि क्षम्य है।

विचार व्यवहार की पूर्ववर्ती अवस्था है। विचार के सत्य होते हुए भी व्यवहार में त्रुटि अज्ञानता अथवा इसी भाँति के अनेक कारणों से सहज सम्भव और स्वाभाविक है। वैदिक सिद्धान्त सत्य हैं, वैदिक संस्कृति और सभ्यता आदर्श है। किन्तु अज्ञानता आदि अनेक कारणों से समय समय पर जो भूलें होती रहीं इससे हम मूल से जुड़े हुए भी अमूल होते रहे निर्मूल नहीं जिसे सही करने के लिए वैदिक भूमि भारत खण्ड अखण्ड भारतवर्ष के काने कोने से दृष्टियों मुनियों और सन्तों का अवतरण होता रहा और इसी के प्रभाव स्वरूप भयंकर ऐतिहासिक आँधियों और तूफानों में भी वैदिक पर्णकुटी अपनी आभा में डाल के कुसुम की भाँति दिग्दिगन्त को अपने रूप रस गन्ध से आगित करती रही। इस प्रकार के अद्भुत, अनोखे, अन्तिम सन्त-महात्मा परम पूज्य बापू रहे। उनका जीवन एक जीता-जागता चमत्कार था। उनको भी धोखे में डालने वाले उनके पट्ट शिष्य ही थे। किन्तु महात्मा गाँधी ने सत्य की महिमा घटने नहीं दी और उनके मोही शिष्य कहीं के भी नहीं रहे तथा अखण्ड भारत भूमि भारत भी कसौटी पर चढ़ गया।

भगवान भास्कर का उदय कहीं होता है किन्तु उनकी रश्मियाँ दिग्-दिगन्त को आलोकित करती हैं। इसी प्रकार वेद भगवान का अवतरण तो सप्त सैन्धव में हुआ किन्तु उनका अपरिमित प्रकाश सम्पूर्ण भारत में फैल गया। आज भले ही पश्चिमोत्तर भारत का एक भाग तथा पूर्वोत्तर भारत का एक भाग भारत से पृथक दिखता हो किन्तु इस सत्य को कोई भी अस्वीकार नहीं करेगा कि ये प्रखण्ड भी अखण्ड भारत भूमि वेद भूमि भारत के ही अविच्छिन्न अंग हैं जिसे अपने ही किसी भाई को सुख-चैन से रहने के लिए प्रेमपूर्वक दे दिया गया है। ऐतिहासिक युग गवाह है कि यह घटना कोई अनहोनी नहीं है और न यह प्रथम बार हुई है। ऐसी घटनाएँ तो यहाँ राजनैतिक कारणों से हमेशा से होती रही हैं किन्तु कालान्तर यह महान देश हिमालय और सागर के समान अडिग, अटूट और अखण्ड रहा है। लड़ाईयाँ, मार-काट, खून खराबा बहुत हुआ मगर इसकी भौगोलिक, प्राकृतिक और सांस्कृतिक एकता कभी भी छिन्न-भिन्न नहीं हुई। इसने अपनी संज्ञा कभी नहीं खोयी। आदि काल से लेकर आज तक इसे भारतवर्ष ही कहा गया जैसा कि विष्णु पुराण के एक श्लोक से विदित होता है—

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्
वर्षं तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति ।



जो प्रदेश समुद्र के उत्तर तथा हिमालय के दक्षिण में है उसका नाम भारतवर्ष है और वहां के लोग भारतीय कहलाते हैं। यह भूगोल भारतीय बुद्धि और भावना में प्रविष्ट हो चुका है। केरल दक्षिण भारत में उत्पन्न शंकराचार्य ने भारत की चार सीमाओं पर चार धर्म स्थापित किये, बट्टी-केदार, द्वारिकापुरी, रामेश्वरम् और पुरी। भारतं देव निर्मितं देशं तथा जननी जन्म-भूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी, भारतवर्ष के ही लिये कहा गया है। भारत शरीर है, भारतीय संस्कृति इसकी आत्मा है।

जो यह तथ्य स्वीकार न करें भले वे दुराग्रही हो किन्तु उनसे भी यह बात मनवायी गयी है। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी इस तथ्य के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हमी लोग न माने तो घोर अन्धकार है। कहा भी है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रः तस्य करोति किम्
लोचानाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किम् करिष्यति

जिसके पास स्वयं की बुद्धि न हो शास्त्र उसे कैसे समझा सकता है। अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है।

इस सन्दर्भ में एक और उक्ति उल्लेख्य है—

अज्ञः आराध्यतेः सुखम् सुखतरन्नपि विशेषज्ञः
ज्ञानं लव दुःखवदग्धं तं नरं ब्रह्मान्वि न रजयेत ।

बुद्धि हीन को आसानी से समझाया जा सकता है, बुद्धिमानों को संकेत काफी है। लेकिन जो अधः कचरे ज्ञान के शिकार हैं उनको ब्रह्मा भी बोध नहीं करा सकते। हमारे देश में ज्ञान लव दुर्विदग्ध जनों की एक बाढ़ सी आ गयी है जिनके बोध के लिए निरोध और नियोजन की पारिवारिक व्यवस्था जारी की गयी है, भारतीय गणतंत्र में। किन्तु यह व्यवस्था मात्र भारतवासियों के लिए हैं मेहमानों के लिए नहीं है। यह सन्तोष के लिए यथेष्ट है।

भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए तथा वैदिक सम्पदा के संरक्षण के हेतु दक्षिण भारतवर्ष में सन्तों और महात्माओं के आखवभाव का एक अटूट क्रम आरम्भ हुआ जिसने ऐतिहासिक अन्धकार के युग में भारत को डूबने से बचा लिया। वैसे तो ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व मथुरा में सन्त तिरुवल्लुवर का जन्म हुआ था जिनकी समाधि मैलापुरम् मद्रास में है। उनकी समाधि पर एक मन्दिर है जहाँ आज भी उनकी पूजा होती है। उन्होंने जन भाषा में 'तिरुक्कुरल' ग्रन्थ का प्रणयन किया था जो तमिल वेद के नाम से प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ का तमिल में बहुत आदर है। यह वेद के समान पवित्र माना जाता है। इसमें तमिल साहित्य के युग से ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दि तक की भारत की सांस्कृतिक अवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। इस युग के साहित्य को 'संगम' साहित्य की संज्ञा दी गयी है। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दि में दक्षिण के राज्यों की संस्कृति और सभ्यता का पूर्ण विकास हो चुका था। चेर, चोल और पाण्ड्य राज्य बहुत सम्पन्न एवं शक्तिशाली थे। 'संगम' युग में दक्षिण बहुत विकसित था। विदेशों से भी व्यापार होता था। इसमें अनेक समृद्धिशाली नगर थे। विद्या एवं कला अपने विकास की चरम सीमा पर थी। वैदिक देवताओं में विष्णु और शिव की पूजा प्रचलित थी। इस युग के सुप्रसिद्ध मनीषी तिरुवल्लुवर थे जिनका तिरुक्कुरल काव्य ग्रन्थ वेदों के समान पूज्य एवं मान्य था। ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दि में उत्तर भारत के क्षत्रिय अधिपतियों ने चोल राज्य के पूर्वी समुद्री तटवर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर लिया और पल्लव राजवंश की स्थापना की। पल्लवों के शासन काल में विद्या, धर्म और साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति हुई। राज्य की और से विद्वानों का पूर्ण समादर होता था। महाकवि भारवि को राजा सिंह विष्णु प्रथम ने राज्याश्रय प्रदान किया था। ब्रह्म विद्यानुरागियों को गाँव दान में दिया जाता था। कुर्रम ग्राम ऐसा था जिसमें 108 कुटुम्ब रहते थे जिनका काम



वेदाध्ययन में रत रहना था। भास के नाटक राजसभा में अभिनीत कराये जाते थे। कौजी दक्षिण का काशी था। बौद्ध धर्म का केन्द्र था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान धर्मपाल यहीं उत्पन्न हुआ था जिसे नालन्दा विश्वविद्यालय का कुलपति बनाया गया था। वैष्णव और शैव धर्म भी पल्लव राज्य में विशेष प्रचलित था। दक्षिण भारत के इस संक्षिप्त परिचयात्मक विवरण से यही तात्पर्य है कि आदिकाल से ही भारत वैदिक संस्कृति एवं भारतीयता के रंग में गहरे उतर चुका था। भारत को यदि प्रकृति ने अखण्ड बना कर भूतल पर उतारा था तो वेदों ने संस्कृति के क्षेत्र में इसकी नींव इतनी गहराई में रोप दी थी कि इसकी प्राकृतिक और सांस्कृतिक अखण्डता कभी भी विचलित नहीं हो सकती है भले ही समय-समय पर आँधी और तूफानी झोंके इसके ऊपर से बहकर निकल जाते रहे। संकट की घड़ियों में भारत के कोने कोने से वीर सूरमा, सन्त महात्मा उत्पन्न होते रहे और अपना देश कालजयी बना रहा। सुखद आश्चर्य की बात यह है कि विदेशी आक्रमणकारियों ने जब उत्तर भारत को अपने प्रभाव में ले लिया तो दक्षिण भारत ने ही आगे बढ़कर इसकी सांस्कृतिक सम्पदा को विनष्ट होने से बचा लिया। ऐसे कुछ सन्तों का नाम स्मरण इस प्रसंग में उल्लेख्य है।

जगत गुरु शंकराचार्य—जन्म तिथि वि.सं. 845 । दक्षिण भारत में केरल प्रदेश में पूर्णा नदी के तट पर स्थित कलादी ग्राम में अवतरित हुए थे।

आचार्य बिम्बार्क—बिलारी जिले के निम्बापुर ग्राम में जन्म विक्रमी सम्वत् ग्यारहवीं सदी में । इन्होंने राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति की आराधना पर विशेष जोर दिया । 'वेदान्त तत्वबोध' आदि अनेक ग्रन्थों का प्रणयन ।

आण्डाल रंग नायकी—विक्रमी आठवीं सदी में जन्म। मीराबाई का पूर्ण रूप थी आप। कावेरी नदी के तट पर जन्म।

यमुनाचार्य—मदुरा में जन्म वि. सं. 1010 में । रामानुजाचार्य आप के ही शिष्य थे।

रामानुजाचार्य— वि. सं. 1094 में जन्म। दक्षिण भारत के तिरुकुदूर क्षेत्र में यमुनाचार्य के शिष्य। वैष्णव सन्त। मैसूर राज्य में स्थायी निवास। वेदान्त सूत्र पर भाष्य और गीता भाष्य आपके ग्रन्थ थे।

राजा भर्तृहरि—मालव प्रदेश शिप्रा के अंचल में आपका जन्म। वैराग्य शतक, नीति शतक, श्रृंगौर शतक आपकी प्रसिद्ध रचना है।

सन्त ज्ञानेश्वर—गोदावरी नदी के तट पर आपे गांव में जन्म वि. सं. चौदहवीं शताब्दि के दूसरे चरण में आपका लिखा हुआ ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी महाराष्ट्र में बहुत पूज्य एवं मान्य है। जीवित समाधि आपने ले ली। पूरा का पूरा परिवार ही सन्यस्त हो गया।

सन्त वसवेश्वर—कन्नड़ साहित्य तथा आन्ध्र साहित्य में बड़ी ख्याति है आपकी। आप भक्ति मार्गी थे। आपने शिव को बहुत लोक प्रिय बनाया। कर्नाटक प्रान्त में आपका जन्म हुआ था। आप जन्मजात शिव भक्त थे।

माधवाचार्य—मद्रास प्रान्त में मंगलूर जनपद में वि. सं. 1295 में जन्म। गीता वेदान्त पर भाष्य। उपाधि खण्डन मायावाद खण्डन आपके अन्य ग्रन्थ रहे।

स्वामी माधवाचार्य—विद्यारण्य वेद भाष्यकार सायण तथा भोगनाथ गरीब ब्राह्मण परिवार में चौदहवीं शताब्दि वि. सं. तुंगभद्रा नदी के तट पर स्थित हाम्पी नगर में जन्म । विद्यारण्य विजय नगर राज्य के संस्थापक हरिहर के गुरु थे। हिन्दुत्व की स्थापना इनका उद्देश्य था । भोगनाथ सन्यासी हो गये।

नामदेव—जन्म वि. सं. 1327, स्वर्गवास वि. सं. 1407। हैदराबाद के सतारा जिले में संत ज्ञानेश्वर के शिष्य, विठ्ठलदेव के भक्त।



विल्वमंगल—दक्षिण भारत में चौदहवीं शताब्दि में जन्म। सन्यास व्रत धारण कर लिया। ये कृष्ण भक्त थे। महान काव्यकार। कृष्ण कर्णामृत, गोविन्द दामोदर स्त्रोत आपके काव्य ग्रन्थ थे।

सन्त सेन—वीदर नरेश के आश्रित। जाति के नाऊ थे। विराजी महात्मा। कृष्ण में अनन्य भक्ति।

सन्त वेमना—1469—1536 वि. सं.। नेल्लूर जिले में जन्म। आपको दक्षिण का कबीर कहा जाता है। आपने एक नया पंथ चलाया। आप आशु कवि थे। जन भाषा में आपने तीन हजार पद लिखे हैं।

नरसी मेहता—जूनागढ़ के निवासी। 1470 वि. सं. में जन्म। वैष्णव भक्त थे। आपने श्रीकृष्ण की रसमयी लीला का गान किया। भागवत दशम स्कन्धा और गीत गोविन्द का आपने अनुवाद किया। वैष्णव जन ते तेने कहिये जे पीर पराई जाने रे, आपका यह पद महात्मा गाँधी को बहुत प्रिय था। 1577 वि. सं. में गोलोक वास।

योगिनी लल्लेश्वरी—आप शिवोपासिका थी। आप काश्मीर की निवासिनी थी। वि. सं. 1436 में आपका जन्म हुआ था। पामपुर ग्राम में। निर्गुण शैव साधना में आप अनुरक्त थी। कबीर दास जी से विशेष प्रभावित थी। काश्मीरी भाषा में लल्लाक्यानि आपकी रचना है।

महात्मा शंकर देव—आसाम के नवगाँव जिले में बरदोआ ग्राम में वि. सं. 1506 में जन्म। आप शिव के महान भक्त थे। आप जाति के कायस्थ थे। आपने भागवत धर्म का प्रचार किया। अद्वैतवादी थे। आपने आसामी साहित्य को जन्म दिया। श्रीकृष्ण के उपासक थे। गोपाल, राम विजय नाटक, रुक्मिणी हरण के जीवामृत आदि अनेक ग्रन्थ लिखे। आप आसाम के सूरदास और तुलसीदास थे।

गुरु नानक देव—वि. सं. 1526 में लाहौर के निकट तालवन्डी गांव में जन्म। पिता का नाम कल्लू चन्द, पटवारी थे। माता का नाम तृप्ता। मतृहरि सहयोगी थे। नानक देव ने उनको भक्ति योग की महिमा बतलायी। इनका **गुरुग्रन्थ** सुप्रसिद्ध है। वि. सं. 1595 में महाप्रस्थान।

महाप्रभु वल्लभाचार्य—वि. सं. 1535 में जन्म। माता—पिता आन्ध्र के निवासी थे। काशी में हनुमान घाट पर रहते थे। विजय नगर के महाराज कृष्णदेव राय आपसे बहुत प्रभावित थे।

वल्लभाचार्य—दक्षिण—उत्तर भारत में प्रख्यात थे। सूरदास जी आपके शिष्य थे। ब्रह्म सूत्र पर इनकी टीका प्रसिद्ध है। दशम स्कन्ध भागवत का आपने अनुवाद किया था। भगवान श्रीकृष्ण का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था आपको। वि. सं. 1587 में हनुमान घाट पर महाप्रयाण।

महाप्रभु चैतन्यदेव—वि. सं. 1543 में नदिया नवद्वीप धाम में ब्राह्मण परिवार में जन्म। दिल्ली के सिकन्दर लोदी बंगाल के हुसेन शाह के समकालीन थे। श्रीकृष्ण के स्वरूप थे। श्रीकृष्ण प्रेमोन्मत्त थे। वि. सं. 1580 में महाप्रयाण।

महात्मा रामानन्द स्वामी—वि. सं. 1356 में प्रयाग में जन्म। आप कान्य कुब्ज ब्राह्मण थे। रामानुजाचार्य के चौथे उत्तराधिकारी परम वैष्णव सन्यासी राघवनन्द के शिष्य थे। गयासुद्दीन तुगलक आप से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने बतलाया कि हिन्दू—मुसलिम दोनों के ईश्वर एक हैं, नितान्त अभिन्न हैं। उनकी यह सीख उस जमाने में आध्यात्मिक क्रान्ति की आधार शिला थी। सीता, राम, लक्ष्मण और हनुमान रामानन्दी सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं। दक्षिण भारत में भी आपने अपने मत का प्रचार—प्रसार किया। रामानन्द योगी थे। परमतत्त्व के पूर्ण ज्ञाता थे। भीमा, रैदास, कबीर, सेन, धन्ना, अनन्तानन्द आदि के अतिरिक्त उनके असंख्य शिष्य थे। वि. सं. 1504 में उनका तिरोधन हुआ। चैत्र शुक्ल अष्टमी को अपने शिष्यों को एकत्र कर उन्होंने बता दिया था कि कल रामनवमी है। मैं अकेला अयोध्या जाऊँगा और भविष्य में मेरा दर्शन न हो सकेगा।



उपरोक्त कतिपय उदाहरणों से पूर्ण बोध हो जाता है कि भारत वर्ष की सांस्कृतिक अखण्डता को अजर अमर बनाने वाले ये सन्त और महात्मा ही रहे हैं जिन्होंने समय समय पर उत्पन्न होकर संकट के समय भारतीयता की नाव को डूबने से बचाया। राजनीतिक अवस्था ने इसे हमेशा तोड़ने की कोशिश की किन्तु वैदिक परम्परा के सत्य से जुड़े विचार कभी टूटे नहीं जिसके फलस्वरूप भारत की अखण्डता अक्षुण्ण रही। 'यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' से लेकर 'जब जब होंहि धरम के हानी, बाढ़हि असुर अधम अभिमानी। तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा हरहि कृपा निधि सज्जन भीरा' तक यह विश्वास भारतीय जनता के हृदय में घर किये रहता है और प्रभु की रहस्यमय व्यवस्था से सन्त महात्माओं का अवतार होता रहता है जिससे भारतवर्ष की महानता कभी मलिन नहीं हो पाती है। स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी वर्तमान भारतवर्ष के ऐसे ही सन्त परम्परा की जीवित जाग्रत अमर विभूति थे।

महाराष्ट्र में समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी महाराज को हिन्दू राज्य की स्थापना का महामंत्र उसी प्रकार दिया था जिस प्रकार स्वामी माध्वाचार्य विद्यारण्य जी महाराज ने विजय नगर हिन्दू राज्य की स्थापना का मंत्र अपने शिष्य हरिहर और बुक्का को दिया था। इनका मंत्र कारगर साबित हुआ। हिन्दू राज्य की स्थापना का कार्य सफल भी हो गया किन्तु भौतिक सफलताओं के मद में चूर होकर कुछ पीढ़ी राज्य चलाकर इनके परवर्ती उत्तराधिकारियों ने सारे किये कराये पर पानी फेर दिया। विजय नगर का हिन्दू राज्य और शिवाजी का मराठा राज्य ध्वस्त हो गया। हिन्दुत्व की रक्षा में गुरु गोविन्द सिंह का बलिदान, भगत सिंह की फाँसी, लाला लाजपत राय की कुरबानी का चमत्कारिक प्रभाव कौन नहीं मानेगा किन्तु राजनीति के दल-दल में भारत की नाव का पंजाब में आज क्या हाल है। सांस्कृतिक मोर्चे ने भारत की अखण्डता को कितना बचाया है और राजनीतिक मोर्चे ने इसे कितना तोड़ा है, क्या अब भी स्पष्ट नहीं होता।

सन्तों महात्माओं की कोई जाति नहीं होती। उनका मात्र विशुद्ध वर्ण होता है। नाभादास, रैदास सेन, सन्त अरवा, सन्त रामचरण, सन्त प्रीतमदास, कबीरदास, सन्त रज्जब, मीरा बाई, पीपा कुम्भन, महात्मा शंकरदेव आदि विभिन्न जातियों के थे। कोई शूद्र था, कोई वैश्य था, कोई क्षत्रिय था, कोई ब्राह्मण था। किन्तु सन्तों का समाज एक था। इनके वर्ण एक ही थे। इनके कर्म भी समान थे। वर्ण से जाति का कोई सम्बन्ध नहीं होता। कोई जरूरी नहीं कि सन्त पिता का पुत्र भी सन्त ही हो। राजा का पुत्र राजा, ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण भले हो किन्तु यह कोई आवश्यक नहीं राजा का पुत्र वास्तव में राजा ही हो और ब्राह्मण का पुत्र वास्तव में ब्राह्मण ही हो। स्वार्थों के चलते, अज्ञानता और लोभ-मोह के कारण अपनी सम्पत्ति की रक्षा के हेतु वर्ण के भीतर से जातियाँ अंकुरित हो गयी और इनकी माया से ये अंकुर जंगल के रूप में विकसित हो गये जिनके भीतर वर्ण सदा सदा के लिए लुप्त हो गये। हालत यहाँ तक खस्ता हो गयी और दिमाग इतना खराब हो गया कि जाति और वर्ण का अन्तर ही बुद्धि की सीमा से बाहर हो गया। जाति पर और जातीयता पर प्रहार करते करते वर्ण पर भी प्रहार होने लगते हैं। वर्ण व्यवस्था वेद निःसृत है। वेदों में जातियों का गुणगान नहीं किया गया हैं वर्णों की महिमा बखानी गयी है। वर्णों का सम्बन्ध कर्म से है। कर्मानुसार ही वर्ण का निश्चय होता है। वर्ण कर्म का परिणाम है न कि जाति का। सभी सन्तों का एक ही वर्ण होता है। भिन्न-भिन्न घरों में वे भले पैदा हुए हों और उनके माँ-बाप कोई भी क्यों न रहे हों। किन्तु सभी सन्तों के एक ही पिता है ईश्वर एक ही माता है प्रकृति। एक ही धर्म ग्रन्थ है वेद, जिसका अर्थ है सत्य। भारत वेद भूमि है। यही एक मात्र सत्य है। सत्य अखण्ड और अकाट्य होता है। इसीलिये सन्तों के आचार विचार में भारत वेदभूमि अखण्ड रही है। वर्ण के चलते भारत अखण्ड है न कि जाति के नाते। जाति ने तो भारत की अखण्डता को खण्ड-खण्ड करने का ही काम किया है। विदेशी आक्रामकों ने



जातिवाद का जहर पिलाकर भारत खण्ड को टुकड़े-टुकड़े कर उस पर एकाधिपत्य स्थापित किया और शासन सफलता पूर्वक वे लोग करते रहे। यही कार्य सफल शासन का हमारा प्यारा भारतीय गणतंत्र भी कर रहा है क्योंकि वर्ण के नाते नहीं जाति के ही नाते वह फूट डालो राज करो की नीति का सफल उपयोग कर सकता है। मैं पुनः इस तथ्य को दुहरा रहा हूँ कि भातवर्ष की अखण्डता को इसकी संस्कृति ने सुदृढ़ किया है किन्तु स्वार्थी की राजनीति ने इसे बहुत दुर्बल बना दिया है। 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी' का यही खुलासा है। यही वह कुछ बात है कि हमारा भारत युग-युग से बलवान है, युग-युग से महान है और युग-युग से अखण्ड है।

मुगले आजम बादशाह अकबर ने गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज को बनारस का राज्य देना चाहा किन्तु गोस्वामी जी ने इसे स्वीकार नहीं किया क्योंकि इससे भजनानन्द में बाधा पड़ती है, जीने का मजा किरकिरा हो जाता है। उन्होंने कहा बादशाह अकबर से कि ईश्वर में विश्वास करते हुए आप प्रजा पालन करें यह काम आपका है, सन्यासियों और साधुओं का नहीं है। बादशाह अकबर साधु समाज प्रेमी था इसलिये उसने आदर्श शासन व्यवस्था चलायी और जातिगत भावनाओं से सदैव ऊपर रहा। यहाँ तक कि मुसलमानों को भी उसके मुसलमान होने में शक होने लगा और उन्होंने अकबर के खिलाफ विद्रोह भी कर दिया। सम्राट अशोक सम्राट हर्षवर्द्धन गुप्तकालीन सभी सम्राट भी इसी प्रकार साधु-महात्माओं का आदर करते रहे और प्रजा पालन का कार्य उन्होंने उत्तम ढंग से किया।

किन्तु हमारे गणतन्त्र भारत के बहुचर्चित सन्त धन सम्पत्ति एवं भौतिकता के चक्कर में पड़े हुए लोक विमुख प्रतीत होते हैं और राजनीतिक मामलों में प्रायः उलझे दिखाई पड़ते हैं। यहाँ उनका नाम लेने की जरूरत नहीं। हमारे राजनेता चमत्कारिक महात्माओं के इर्द-गिर्द वैसे ही फेरे लगाते रहते हैं जैसे साधारण गृहस्थ अपने घर गृहस्थी के मामले में ऊँचे ढेले को भगवान समझकर उसकी पूजा करते हैं कि उनका दुख दूर हो। किन्तु आज भी वैसे सन्तों की विभूति से भारतवर्ष खाली नहीं है जो वास्तव में सत्य की अराधना करते हैं और त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। इनकी मूल्यवान सेवाओं का हमारा देश ऋणी रहा है और सदैव ऋणी रहेगा। साई बाबा, महर्षि रमण, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी ऐसे ही सन्त रहे हैं जिनकी दृष्टि में भारत अखण्ड है, अटूट है, वेद भूमि है।



वर्ण व्यवस्था बनाम जाति प्रथा

आर्य भूमि भारत में यदि कोई सबसे अधिक आपत्तिजनक बात है तो वह है जातिवाद। भारत आर्यों का देश है। यहाँ के मूल निवासी आर्य हैं। भारतीय सांस्कृतिक विचारधारा के अनुसार तथा भाषा और लिपि की अनुकूलता एवं समानता के आधार पर द्रविड़ भी आर्यों की ही एक शाखा है जो दक्षिण भारत में बसे होने के कारण द्रविड़ कहलाए। वेद, पुराण, शास्त्र, विचार और समस्त कार्य कलाप में दोनों में अभिन्नता है सबका वर्ण एक है।

पता नहीं आर्यों में जाति कब और कहाँ से आ टपकी जिसने अनेक प्रकार के भेद-भाव की सृष्टि कर आर्य को आर्य से ही अथवा वर्ण को वर्ण से ही काटकर एक दूसरे से अलग कर दिया। जाति कोई सिद्धान्त नहीं, कोई विचारधारा नहीं, कोई वाद नहीं, यह मात्र प्रथा है, परम्परा भी नहीं। परम्परा तो यहाँ वर्ण व्यवस्था की है। जाति महज औपचारिकता के नाते एक प्रथा है, रिवाज है। रिवाज और परम्परा में अर्थ भेद है जो बात रिवाज में हमेशा चलती रहती है अर्थात् जिस बात का हमेशा अभ्यास होता रहता है वहीं रिवाज या प्रथा कहलाती है। परम्परा का सम्बन्ध सर्वदा मूल से होता है और सिद्धान्तया वह मौलिकता से जुड़ी होती है। जन्म धारण करने वाला जातक कहलाता है और वंशानुक्रम में होने के कारण वंश विशेष जातक की जाति कहलाने लगती है। इसीलिए यह एक प्रथा मान ली जाती है। इसका वर्ण व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं होता।

लीक पर चलते रहने के कारण रास्ता गढ़वा बन जाता है। मरम्मत ने होने से, संशोधन परिवर्द्धन न होने से यह गढ़वा और गहरा बन जाता है जो कालान्तर में इतना खतरनाक हो जाता है कि हम पतन के गर्त में गिरने को बाध्य हो जाते हैं। गहन लगाव या मोह या मूर्खता पूर्ण स्वार्थ से सटे रहने के कारण न इसको हम छोड़ पाते हैं न इसमें रह पाते हैं और जहाँ से चले थे जीवन यात्रा में उस मुकाम को भी हम भूल जाते हैं। ऐसी खतरनाक हालत में हम पड़े रहने के अभ्यासी हो गये हैं। सदियाँ गुजर गयी एक से बढ़कर तबदीलियों के दौर से हम गुजरते चले आए मगर इस अन्धी गुफा से निकलने को तैयार नहीं हुए। जाति प्रथा आर्य जीवन में कैंसर के समान घर कर गयी है। यदि आपरेशन के जरिये कैंसर के ये जहरीले कीटाणु काट कर फेंक नहीं दिए गये तो हम जिस अवस्था में हैं उनसे अधिक अधमाति-अधम अवस्था में पड़े-पड़े सड़ते रहने को बाध्य हैं।

आर्यों की वर्ण व्यवस्था का यह उद्देश्य कदापि नहीं था। जाति प्रथा को वर्ण व्यवस्था से जोड़ना भयंकर भूल है। यदि जाति को वर्ण से जोड़ने का कुटिल प्रयास किया जायेगा तो हम कर्म से च्युत होकर अपने आप ही समाप्त हो जायेंगे। वर्ण व्यवस्था समाज के समस्त प्रमुख कार्यों का एक वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक विभाजन है। शिक्षण, रक्षण, पोषण एवं श्रम जीवन के लिए अनिवार्य है। यह अनिवार्यता व्यक्ति के लिए उतना ही आवश्यक है जितना समाज के लिए। चार आश्रमों यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास से चार वर्णों का परस्पर गहन सम्बन्ध है। प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित होना चाहिये, आत्म रक्षा की सामर्थ्य एवं शक्ति उसमें होनी चाहिए, उपार्जन के द्वारा भरण-पोषण करने की उसमें पात्रता होनी चाहिए और इन सभी कार्यों को व्यवहार में उतारने के लिए उसे अपेक्षित श्रम करना चाहिए ताकि समाज की अर्थ व्यवस्था, धर्म व्यवस्था, काम व्यवस्था सुचारु रूप से चले और सभी सुव्यवस्थित ढंग से कर्मों के यथोचित पालन के उपरान्त आत्मशक्ति अर्थात् मोक्ष के अधिकारी बने। प्रत्येक मानव की आकांक्षा दीर्घ काल तक जीवित रहने की होती है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति की आयु का एक



मानसिक हिसाब लगाकर सौ वर्ष की अवधि तक जीवित रहने की कल्पना करके उसको भी चार प्रकार के कार्य के लिए चार विभागों में बाँट दिया गया जिसको आश्रम कहते हैं। पहला है ब्रह्मचर्याश्रम जिसमें पच्चीस वर्षों तक शारीरिक और मानसिक फष्टता के हेतु नियमित ढंग से माता-पिता एवं गुरु आचार्य की सेवा में रहकर स्नातक के रूप में स्वयं को सर्वगुण सम्पन्न बनाया जाता है। दूसरा आश्रम है गृहस्थाश्रम। इसमें अगले पच्चीस वर्षों तक गृहस्थी की जाती है। तीसरा आश्रम है वानप्रस्थ का जिसमें रहते हुए अगले पच्चीस वर्षों में अपने को धीरे-धीरे गृहस्थी के बोझ से मुक्त किया जाता है। चौथा आश्रम है सन्यास का। इसमें शेष पच्चीस वर्षों तक संसार और सांसारिकता से पूर्ण मुक्त होकर भगवत् आराधना में मन लगाया जाता है ताकि मोक्ष प्राप्त हो। इस व्यवस्था में व्यक्ति, समाज और अध्यात्म के बीच गहन तादात्म्य सम्बन्ध की स्थापना की गयी है। यह व्यवस्था किसी जाति विशेष के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण आर्य समाज पर एक समान लागू है। इसमें न कोई ब्राह्मण है, न शूद्र, न कोई क्षत्रिय है, न कोई वैश्य। सबके लिये शिक्षित होना, रक्षण के लिए समर्थ होना, भरण-पोषण के हेतु सुयोग्य होना, इन सभी कार्यों के सम्पादन हेतु अपेक्षित श्रम करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से एक ही व्यक्ति ब्राह्मण भी है, क्षत्रिय भी है, वैश्य भी है, और शूद्र भी है। यदि ऐसा न होता तो पैर की पूजा कभी नहीं होती। न कहीं छूआ-छूत है, न कोई उँच है न कोई नीच। यही वैदिक वर्ण व्यवस्था का वास्तविक स्वरूप है।

इसका आध्यात्मिक स्वरूप भी बहुत सरल और स्पष्ट है। किसी ईश्वर की नहीं प्रत्युत प्रकृति की पोषक शक्तियों की ही आराधना होती थी और मारक शक्तियों से बचाव के हेतु प्रार्थना की जाती थी। यज्ञों की बहुलता, कर्मकाण्डों का आधिक्य, मतमतान्तरों की जटिलता कालान्तर में बढ़ती गयी और जिस तरह मंत्री का बेटा मंत्री, सांसद का बेटा सांसद, हीरो का बेटा हीरो, कवि का पुत्र कवि, चोर का पुत्र चोर, पुरोहित का पुत्र पुरोहित, महाराज का पुत्र महाराज होता है उसी प्रकार कालान्तर में पढ़ने-पढ़ाने वाले का बेटा ब्राह्मण, शासन और रक्षण करने वाले का बेटा क्षत्रिय, धनोपार्जन करने वाले का बेटा वैश्य और श्रम तक सीमित रहने वाले का पुत्र श्रमिक या शूद्र जन्म लेने के कारण कहा जाने लगा और कोई संशोधन और नियंत्रण न होने के हेतु व्यक्तिगत स्वार्थों के संरक्षण के उद्देश्य से सभी अपने-अपने में सिकुड़-सिमट गये जिससे जाति-जातक उत्पन्न हो गये। जान बूझ कर या सोच समझ कर जाति नहीं बनायी गयी। वर्ण व्यवस्था पीछे खिसक गयी और जाति प्रथा आगे बढ़ गयी।

ईश्वर नामधरी कोई जीव नहीं होता और न तो उसकी कोई जाति होती है। बेशक आकार में वह मानव होता है किन्तु ईश्वर के अनेकानेक अवतारों में कछुआ, मछली, सूअर बाराह, बौना, नरसिंह वगैरह विभिन्न स्वरूपों में भी ईश्वरत्व अवतरित होता है। इसीलिए यह भी कहा गया लोकोक्ति में कि हम में तुम में, खरद खम्भ में घट-घट में व्याप्त हैं राम। बोधिसत्व के रूप में बुद्ध बैल की योनि में भी उत्पन्न हुए थे। गुणों की ही पूजा होती है। राम सगुण ब्रह्म थे ईश्वर के अवतार थे। क्या सभी जाति के आदमी उनको सिर नहीं झुकाते। क्या ईसा मसीह और मुहम्मद साहब को प्रणाम सभी लोग नहीं करते। कहते हैं सन्त नाभादास डोम थे तो क्या गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने उनका जूता अपने सिर नहीं चढ़ा लिया था और क्या मीरा ने क्षत्रियाणी और महारानी होते हुए भी ईश्वरत्व के मार्ग पर सन्त रविदास को जो चमार थे अपना गुरु स्वीकार नहीं कर लिया था। सन्त सेन तो नाई थे जाति के किन्तु क्या उनको सभी सिर नहीं झुकाते ? ऐसे में कवि ले हण्ट की एक कविता की प्रथम पंक्ति की अर्द्धाली हम उदृत करना चाहेंगे कि



ABOU BEN ADHEM (may his tribe increase) आबू बेन अदम। भगवान करे कि संसार में ऐसे लोगों आबू बेन अदम जैसे लोगों की संख्या में वृद्धि हो जिनको अगर भगवान का प्यार नहीं मिला तो क्या उनके भक्तों से तो उन्हें प्यार है।

वास्तव में भगवान के वे ही प्यारे हैं जो भगवान के भक्तों को प्यार करते हैं। राम से अधिक राम का दास। ईश्वर की बनाई सृष्टि में सभी एक समान हैं। ईश्वर के प्रेमियों की कोई जाति नहीं होती किन्तु उनका वर्ण होता है। वर्ण व्यवस्था के अनुसार जीवन गति नियंत्रित करने से ईश्वर साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इसी लिए वर्ण व्यवस्था उत्तमाति उत्तम व्यवस्था है। ईश्वर के मानने वालों का वर्ण होता है उनकी कोई जाति नहीं होती। जो जाति प्रथा को मानते हैं वे निश्चय ही ईश्वर को नहीं मानते। ईश्वर को मानने से अध्यात्मिक सुख-शान्ति मिलती है। भाई-चारे में वृद्धि होती है। यह वर्ण व्यवस्था से ही सम्भव है, जाति प्रथा तो वर्ण को तोड़ देगी, ईश्वर को तोड़ देगी, जीवन जगत को तोड़ देगी। इसलिए यह घातक प्रथा समाप्त होनी चाहिए।





दक्षिण भारत

यह दक्षिण भारत है। युग-युग से अखण्ड भारत एवं वैदिक सभ्यता-संस्कृति का सुदृढ़ स्तम्भ। यदि पश्चिमोत्तर एवं उत्तर भारत में शक्ति के साथ-साथ दुर्बलता न रही होती तो पूरा भारत कभी भी पराधीन न हुआ होता। इरानी आक्रमणकारी दारा, यूनानी हमलावर सिकन्दर, अरब सेनापति मुहम्मद बिन कासिम यवन, बाख्मी, सीथियन, हूण, शक सरदारों के बाद ही आततायी महमूद गजनी और मुहम्मद गोरी उत्तर भारत के भीतर पैठे न होते तो उत्तर भारत के उपरान्त दक्षिण भारत पर इनका आधिपत्य स्थापित न हुआ होता। किन्तु इन हमलावरों से दक्षिण भारत उतना पराभूत नहीं हुआ जितना उत्तर भारत। उत्तर भारत को केन्द्र बनाकर विदेशियों ने दक्षिण भारत में भी पाँव जमाना चाहा मगर इस कोशिश में विदेशियों के केवल पैर ही नहीं उखड़े उत्तर भारत से भी उनके बोरिया बिस्तर बाँधने की नौबत आ गयी।

दक्षिण भारत पर व्यापक प्रभुत्व कायम करने वाला दिल्ली सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी था। अलाउद्दीन खिलजी ने सबसे पहला निशाना देवगिरि के यादव राजा रामचन्द्र को बनाया। लूट-पाट, नोंच-खसोंट, छीना-झपटी, धन सम्पत्ति, बहू-बेटी पर जबरदस्ती कब्जा और आंतक के हथकण्डे से सम्बन्धी मित्र एवं हितैषी बनाने का उसका कुटिल अभियान गन्दे तरीके से कारगर हुआ जबकि भतीजा प्रेम-विह्वल गले लगाते चाचा सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी का कत्ल करवा कर खुद तख्तनशीन हो गया। जितना जलील अलाउद्दीन खिलजी ने किया उत्तर और दक्षिण भारत को उतना पूर्ववर्ती या पारवर्ती किसी तथाकथित आततायी सुल्तान ने नहीं किया। यह सब पश्चिमोत्तर या उत्तर भारत की आपसी लड़ाई और कमजोरी की मेहरबानी थी। पारवर्ती दिल्ली तख्तनशीनों ने इस विराट साम्राज्य पर अपना आधिपत्य अक्षुण्न बनाये रखने की कोशिश में अपना ही राजनैतिक पतन कर डाला। ये सभी मुँह की खाकर रह गये।

दक्षिण भारत पर स्थायी आधिपत्य के निमित्त मुहम्मद तुगलक ने दिल्ली के बदले दौलताबाद को राजधानी बनाया। मगर खब्तुल हवासी में किया गया यह काम उसको रास नहीं आया। वह पुनः दिल्ली लौट आया। दक्षिण भारत में उठी बगावतों को वह दबा नहीं सका। दक्षिण में अनेक स्वतंत्र राज्य कायम हो गये जिनमें विजय नगर का हिन्दू राज्य और बहमनी वंश का मुसलिम राज्य भी था। उसका पूरा साम्राज्य छिन्न-भिन्न होकर खण्ड खण्ड हो गया और सुल्तान बगावतों को दबाते हुए तथा दबाने की कोशिश में सिन्ध के रेगिस्तान में मर गया। यही हालत औरंगजेब की भी हुई। बीस वर्ष तक दक्षिण भारत में बगावतों से जूझकर औरंगाबाद में उसने दम तोड़ दिया जहाँ की मिट्टी में वह दफना दिया गया। तब तक शिवाजी ने दक्षिण भारत में हिन्दू राज्य स्थापित कर लिया था और मुगलों का एकाधिकार भारत पर समाप्त हो चुका था। ये निर्णायक घटनाएँ दक्षिण भारत में ही घटी। भारतवर्ष और भारतीयता के लिए दक्षिण भारत के योगदान की बराबरी नहीं हो सकती। आज भी हिन्दू राज्य की पुकार दक्षिण दिशा से ही आती है।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत में पौराणिक काल से लेकर ऐतिहासिक काल तक कभी परस्पर विरोधी बात नहीं रही। जीव का स्वरूप द्वन्दात्मक होता है। यह द्वन्द्व व्यक्ति में, परिवार में, गांव में, समाज में प्रायः होता रहता है किन्तु भावनात्मक और वैचारिक दर्शन के सूत्र में जुड़े होने के कारण न तो व्यक्ति टूटता है न समाज। ऐसा तो दक्षिण में ही परस्पर बहुत हुआ है होता रहता है। उत्तर भारत में भी परस्पर विरोध की परिस्थितियाँ बहुधा उत्पन्न होती रही हैं और आज भी हैं। ऐसा ही पूर्व में अथवा पश्चिम में भी है। किन्तु भावनात्मक और वैचारिक एकता के कारण हम आदि काल से अविभाज्य हैं। छोटे मोटे सवालों को तूल दे करके हम प्रायः



एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोकते रहते हैं। कभी भाषा के प्रश्न पर तो कभी राम के नाम पर। जबकि भाषा और राम हजारों वर्ष से हमारी कुलीनता की पहचान रहे हैं। हमारी राष्ट्रभाषा संस्कृत और हमारी संस्कृति भारतीयता के रंग में रंगी है। जबकि प्रत्येक भारतीय की यही पहचान हो तो तमिल, तेलगू, मराठी, गुजराती, बंगला, गुरुमुखी आदि के नाम पर हमें कोई अलग कैसे कर सकता है। हिन्दी हमारी संस्कृति है। आजादी हमारा जीवन है। राम हमारा अस्तित्व है।

लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, महात्मा गाँधी, वीर सावरकर, राज गोपालाचारी, डॉक्टर राधकृष्णन जैसे भारतीय रत्न स्वाधीनता अखण्डता एकता और भारतीयता की अलख जगाने वाली पवित्रात्मायें दक्षिण दिशा से ही पूरे भारत पर छापी रहीं। जगतगुरु शंकराचार्य, रामानुजाचार्य रामानन्द जी, बल्लभाचार्य निम्बार्काचार्य माधवाचार्य, विद्यारण्य, समर्थ गुरु रामदास, सन्त तुकाराम, सन्त ज्ञानेश्वर, एकनाथ, सन्तसेन, रविदास, नरसी महतो इत्यादि महान आत्माओं की सदप्रेरणाएँ एवं उनका आशीर्वाद दक्षिण भारत का ही प्रसाद था कि घोर अन्धकार के युग के बाद भारतवर्ष आज भी अपनी संस्कृति और अखण्डता की भावना से देदीप्यमान है। भारत की सांस्कृतिक एवं भौगोलिक अखण्डता का सबल और सशक्त प्रेरक दक्षिण भारत रहा है जिसने इसको अस्तित्वविहीन होने से बचा लिया। शेष भारत ने इसका नेतृत्व स्वीकार किया। भारत की अखण्डता अक्षुण्ण रही। सबके मेल से ही यह हुआ।

अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ता। पूरे देश के सहयोग से यह काम हुआ। “चारि जानें चारहूँ दिशा से चार कोने गहि, मेरु को हिलाय के उखारें तो उखरि जाए” का आलम था। विवेकानन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र, सुभाष चन्द्र बोस, लाला लाजपत राय, रामप्रसाद बिस्मिल, चन्द्रशेखर आजाद, मोती लाल नेहरू, जवाहर लाल नेहरू, मदन मोहन मालवीय, सरदार बल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र बाबू जैसे वीरात्माओं ने कन्धा से कन्धा लगाकर पूरी ताकत से स्वाधीनता का संग्राम किया और वह भी निहत्थे। सदियों की गुलामी की जंजीर को सबने मिलकर तोड़ दिया और भारत आजाद हुआ। यद्यपि भूमिका किसी प्रखण्ड की जरा भी कमजोर नहीं थी किन्तु स्वतंत्र होने के बाद कहाँ से और कैसी दुर्बलता दीख पड़ रही है कि हम आपस में ही एक दूसरे से उलझ पड़े हैं। भारतवर्ष दिशा शून्य हो उठा है और आज सभी दिशाएँ परस्पर उलझी हुई दिखाई पड़ रही हैं। उत्तर-दक्षिण का अथवा पूरब पश्चिम का सवर्ण-अवर्ण का, भाषा संस्कृति का, राजनीति-धर्म का यह व्यर्थ का पचड़ा लेकर सिद्ध मार्ग को छोड़कर हम कहाँ भटक रहे हैं। यही समस्या है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की कविता-‘आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई,’ भारतेन्दु के युग में सत्य थी कि भारत दुर्दशा ग्रस्त था, गुलामी की जंजीर में जकड़ा था। सिवा रोने के अपनी इस दीन दशा पर और कोई चारा नहीं था। ‘आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई’ यही उस समय की हमारी कारगुजारी थी। भारतेन्दु की कविता के आँसू शोले बनकर दहक उठे। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में पूरा भारतवर्ष तन कर खड़ा हो गया। आततायियों के विरुद्ध। क्या उत्तर क्या दक्षिण क्या पूरब क्या पश्चिम सभी दिशाओं से फिरंगी भारत छोड़ो का नारा गूँज उठा और साथ ही दुर्गा के भी नेत्र रक्तवर्ण के होने लगे। दिल्ली पर चढ़ाई हो गयी नेताजी सुभाष चन्द्र बसु की। भारतेन्दु के आँसू प्रलय घटा बन कर उमड़ चले। हम स्वतन्त्र हो गये।

भारतेन्दु की कविता स्वाधीन भारतवर्ष में एक बार पुनः सत्य के कगार पर आ खड़ी हो गयी है कि आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई। हम स्वतंत्र होकर पुनः परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध ताल ठोक रहे हैं। कैसी विडम्बना है—तब भी रोना, अब भी रोना। अब पछताये होत क्या चिड़िया चुग गयी खेत। फिरंगियों से समझौता करते समय ही सोचना चाहिए था कि हिन्दू



महासभा को छोड़ कर मुसलिम लीग से जो एक धार्मिक एवं साम्प्रदायिक पार्टी थी भारत के विभाजन का समझौता क्यों किया गया? राम को बाबर के मुकाबले खड़ा करने की नौबत नहीं आई होती। इधर बौखलाहट इतनी बढ़ गयी है कि भारत के प्रधानमंत्री की टाँग तोड़ने, उनकी कोठी में आग लगाने एवं भारतवर्ष को भस्म कर देने की तमन्ना लहराने लगी है। अनाप-शनाप कुछ भी बक देने में कोई झिझक नहीं होती। क्या यह सब और दीगर ऐसे ही मामिलात जो हमारी आजादी को खत्म कर देने की साजिश जैसे हैं राने के विषय नहीं। एक बार फिर भारतेन्दु की कविता 'आवहु सब मिलि रोवहु भारत भाई' दिल को टीसने लगी है। हम जिसे गले लगाये हुए हैं वे ही हमको कत्ल करने पर आमादा हैं, भला इससे बढ़कर बदकिस्मती और बदहाली क्या हो सकती है। सियासती गद्वारी कुदरत खुद सम्हाल लेगी, पूरा यकीन है। गद्वारों को जोर आजमाइश करने दो।





कस्मै देवाय हविषा विधेमः

कारण—कार्य प्रवाह और कर्म फल भोग से मुक्ति मानव जीवन का लक्ष्य है। सृष्टिकर्ता को ब्रह्म कहा गया है। प्रकृति की रचना के साथ साथ समस्त चर—अचर प्राणियों की रचना का आदि स्रोत ब्रह्म ही माना जाता है। जीव से ब्रह्म का अथवा रचना से रचनाकार का तादात्म्य ही मोक्ष कहलाता है। किन्तु कारण—कार्य प्रवाह और कर्म फल भोग रचना को रचनाकार के पास सही ढंग से पहुंचने नहीं देते। इसी को भवसागर कहा गया है जिसमें से निकलने के लिए जीव व्याकुल रहा करता है। यह एक जटिल समस्या है। जिसको लेकर मनीषियों और चिन्तकों ने अनेक थियरीज गढ़ डाले हैं। भवसागर से सही ढंग से न निकल पाने की सोच में भगवान गौतम बुद्ध ने मध्य मार्ग का अनुसंधान किया और निर्वाण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जो कार्य—कारण सिद्धान्त के अनुसार शत—प्रतिशत सही प्रतीत होता है।

बुद्धदेव ने अनुभव किया कि संसार दुखों की खान है। प्रत्येक जीव जन्म—मृत्यु जरा व्याधि के कारण दुखी रहता है। इस दुख का कारण है जन्म धारण करना। उन्होंने जन्म को ही दुख का कारण बतलाया। कारण न हो तो कार्य नहीं होगा के नियम के अनुसार उन्होंने साबित किया कि अहं और तृष्णा से ही पुर्नजन्म होता है। यदि जीवन में अहं और तृष्णा न हो तो जन्म नहीं हो सकता है। जन्म न होने से संसार के दुःख भोग से सहज ही छुटकारा मिल जाएगा। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

इस हेतु आचरण के लिए बुद्धदेव ने अष्टांग के साथ दस शील का पालन अनिवार्य बतलाया। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का पालन गृहस्थों के लिए तथा रस, गन्ध, कोमल शैय्या, अति—भोजन, नशा आदि का उपरोक्त पाँच शीलों के साथ सेवन वर्जित किया भिक्षुओं के लिए जो इन सभी नियमों का पालन करेगा वह जीवित अवस्था में ही निर्वाण पद प्राप्त कर लेगा और पंच साधान के विच्छिन्न होने पर अर्थात् मर जाने पर कभी जन्म नहीं धारण करेगा। उसका निर्वाण पद स्थायी हो जायेगा।

मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग निर्वाण पद प्राप्ति के मार्ग की अपेक्षा कुछ अधिक स्वाभाविक है। कार्य की अनेकानेक विभिन्न उपाधियों के बीच से यदि कोई सही—सही जीवन यात्रा पूरी कर ले तो उसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने के उपरान्त उसका सम्बन्ध सृष्टिकर्ता आदि कारण से जुड़ जायेगा और चूंकि उसका सम्बन्ध कारण से होगा अतएव वह फिर अपनी पात्रता के अनुसार कर्मक्षेत्र में उतरेगा अर्थात् जन्म धारण कर सकेगा और ब्रह्म जीव का सम्बन्ध यथावत अक्षुण्ण चलता रहेगा। लोक लीला कभी समाप्त नहीं होगी। प्रकृति के ही समान जीवन—जगत् के विविध व्यापार अपने समस्त लालित्यों के साथ चलते रहेंगे। जीवन संघर्ष कभी समाप्त नहीं होगा। कारण कार्य प्रवाह और कर्मफल भोग की निरन्तरता सदैव बनी रहेगी। कर्मफल की अनेकानेक विविध उपाधियों के कारण जीवन के विभिन्न स्तर भी रंगीन बने रहेंगे। यदि निर्वाण का सिद्धान्त वैज्ञानिक सत्यता युक्त हो तो आम कभी परिपक्व होकर धरती पर नहीं आएँगे और न तो कभी फूलों की पंखुरिया देव प्रतिमा पर अर्पित होंगी, न फल होगा और न रस।

निष्काम कर्मयोग का अर्थ यही समझ में आता है कि कोई भी कार्य हो उसे सिद्ध करने के लिए प्राणपण से चेष्टा करनी चाहिए। पसीने की आखिरी बूँद रुधिर की अन्तिम बूँद के साथ होनी चाहिए ताकि जीवन के संघर्ष के प्रति पूर्ण न्याय हो सके। इस संघर्ष में फलासक्ति वर्जित है। फल का कर्म से कोई अलग अस्तित्व नहीं होता। फल देवता का दिया वरदान नहीं वह



सम्यक संघर्ष का ही परिणाम होता है जो उपलब्ध हुए बिना नहीं रहेगा। जैसा कर्म तदनुसार फल सुनिश्चित है।

कर्म कैसे निष्काम हो सकता है जब कर्म करने के पूर्व उसके सम्बन्ध में उचित-अनुचित का विचार कर लेना अपरिहार्य है। जब कर्म इस विचार से किया जायेगा तो उसकी निष्कामता समाप्त हो जायेगी और वह अकर्मक नहीं सकर्मक भूमिका प्रस्तुत करने लग जायेगा। यही अनासक्त कर्मयोग है जो भाग्यवाद को चुनौती देता है। अहं तो इदम अस्ति अर्थात् इयत्ता का द्योतक है। इयत्ता है तो अहं अथवा अस्मिता का होना सहज और स्वाभाविक है। अहं का परित्याग करना इयत्ता को न मानना है जब कि इयत्ता की वर्तमानता अहं अथवा अस्मिता से ही है। अस्मिता से ही इयत्ता का बोध होता है। अस्मिता हटा दी जाये तो भी इयत्ता अपने सहज स्वरूप में वर्तमान रहेगी। आदमी न हो तो क्या प्रकृति भी नहीं होगी। प्रकृति अपने शाश्वत स्वरूप में अपना कार्य सहजतः करती रहेगी। सूर्य अपना काम बन्द नहीं करेगा। तारे अपनी दिशा का परित्याग नहीं करेंगे। सागर अपने धर्म का निर्वाह करता रहेगा। धरती भी कर्म-प्रतिपादन में संलग्न रहेगी। आदमी निर्वाण की अवस्था में रहकर इयत्ता का अनुसरण करता रहेगा। यदि निर्वाण सत्य है तो मात्र इतना ही कि प्रकृति आदमी को छोड़कर शेष सभी का सृजन, सम्भरण और संवरण करती रहेगी। शून्य से शून्य की उत्पत्ति कदापि नहीं होगी। नियम से नियम चलते रहेंगे। कितना अच्छा होता कि आदमी भी इस सर्वोच्च नियम को मानकर सहज भाव से जीव धर्म का पालन करता और प्रकृतिस्थ अवस्था में सर्वोच्च स्थान पाने के निमित्त सफल संघर्ष करती। इसी को मोक्ष प्राप्त करना अथवा ब्रह्म से जीव का संयुक्त होना कहा जा सकता है जो निर्वाण के सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न है।

वृत्तियाँ प्रकृति की विभूति हैं। चूंकि मनुष्य चेतन प्राणी है अतएव वृत्तियाँ चेतन तत्त्व में ही साकार हो सकती हैं। चेतन के साथ मिलकर वृत्तियाँ अनेक प्रकार के खेल खेलती रहती हैं। वृत्तियों की संख्या अपरिमित है वैसे सरलता के लिए प्रमुखता के आधार पर इन्हें कुछ वर्गों में सहेज लिया जाता है ताकि ये आसानी से बोध में उतर सकें। वृत्तियाँ चूंकि प्रकृति की देन हैं अतएव ये सत्य या असत्य नहीं होती हैं, त्याज्य या अत्याज्य नहीं होती हैं, सापेक्ष या निरपेक्ष नहीं होती हैं। इनकी अस्मिता को नकारा नहीं जा सकता है। चेतन के सहारे इन्हें सहेजा या सँवारा जा सकता है। क्योंकि जब ये वृत्तियाँ कर्म के क्षेत्र में उतरती हैं तो इनसे निःसृत फल बड़े महत्व के होते हैं जो मानव जीवन को अनेक तरह से प्रभावित करते रहते हैं। इस अवस्था में मनुष्य कभी रोता है, कभी हंसता है। कभी दुखी होता है तो कभी सुख का अनुभव करता है। जब कि यह निश्चित है कि वृत्तियाँ एवं चेतन तत्त्व के मेल से ही वह मार्ग भी बनता है, जिसको पंथ कहा जा सकता है जो जीव को ब्रह्म के पास पहुँचाता है। कुछ वृत्तियाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत हैं यथा, भावना, कामना, चेतना, कल्पना, तृष्णा, आसक्ति, विरक्ति, अभिव्यक्ति आदि।

वृत्तियों को **Instinct** कहते हैं आंग्ल भाषा में जो मनोविज्ञान की सृष्टि से मनोवृत्ति के रूप में समझी जा सकती है। सभी वृत्तियाँ मानव मन को प्रभावित करती हैं। मानव चेतन प्राणी कहा जाता है। सोचने विचारने के गुण सम्पदा के अधिकारी होने के नाते किन्तु संस्कार वंशानुगत गुण, वातावरण आदि के कारण मानव सर्वदा प्रकृति संगत अवस्था में ही आचरण नहीं करता। वह इतर अवस्थाओं से भी प्रभावित होता रहता है जिनके कारण उसे कर्तव्याकर्तव्य ज्ञान सही-सही नहीं हो पाता और वह जटिल, जटिलतर, जटिलतम अवस्थाओं में चक्कर काटने या उलझने को बाध्य होता रहता है। वृत्तियों के साथ मानव मन को जहाँ तहाँ घुमाते फिराते, नचाते रहने वाला एक तत्व और है जो दिशा निर्देशक का काम करता है जिसे 'नचमत' मदेम कहा जा



सकता है। किन्तु भूल से भी इसे आत्मा नहीं समझना चाहिए। आत्मा मन, बुद्धि और वृत्तियों से सर्वथा अलग रहने वाला तत्व है जो इनसे गहन लगाव रखता हुआ भी इनसे पूर्णतया अलग रहता है। इस दिशा निर्देशक तत्व का जो भी नाम रख लिया जाये। यह देवता तत्व, राक्षस तत्व, असुर तत्व, दनुज तत्व, यक्ष तत्व, मृत-पिशाच तत्व आदि भी हो सकता है किन्तु सर्वोत्तम दिशा निर्देशक तत्व कवि तत्व ही हो सकता है जो मानव मन को उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, कर्तव्या कर्तव्य का भान करा सकता हैं मानव मन अपने संस्कारों के कारण वंशानुगत गुणों के कारण, वातावरण के प्रभाव के कारण कोई भी दिशा निर्देशक तत्व अपनी इच्छा के अनुसार चुन सकता है। इसके बाद ही मानव जीवन का नाटक जिसे हम लीला, रामलीला, रासलीला या लोक लीला आदि कह सकते हैं आरम्भ होता है।

प्रिय पाठक बन्धु इस प्रसंग में हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर अपना यह अधूरा लेख जहाँ का तहाँ समाप्त कर देते हैं ताकि आप भी इस प्रसंग पर कुछ सोचें और लेख को समुचित दिशा संकेत प्रदान करें।

जीवन को विशेष रूप से प्रभावित करने वाली आठ प्रमुख वृत्तियाँ हैं जो सरलता से समझने के लिए दो वर्गों में रखी जा सकती हैं यथा— 1. भावना, कामना, चेतना और कल्पना, 2. तृष्णा, आसक्ति, विरक्ति और अभिव्यक्ति। वृत्तियों का मूर्त रूप है मानव और अमूर्त रूप है कवि जो मानव शरीर के भीतर रह कर उसे प्रभावित करता है। मानव और कवि से वृत्तियों के संयोग का फल प्रस्तुत है—

1—

मानव —	भावना से	—	विवेक	विवेक —	श्रद्धा से
कवि —	भावना से	—	श्रद्धा		आस्था
मानव —	कामना से	—	पीड़ा	पीड़ा —	वियोग से
					अनुराग
कवि —	कामना से	—	वियोग		
मानव —	चेतना से	—	आशा	आदर्श —	आशा से
कवि —	चेतना से	—	आदर्श		कला
मानव —	कल्पना से	—	अनुभूति	दर्शन —	अनुभूति से
कवि —	कल्पना से	—	दर्शन		विज्ञान
अनुराग —	आस्था से	—	भक्ति	ज्ञान —	भक्ति से
विज्ञान —	कला से	—	ज्ञान		आनन्द

2—

मानव —	तृष्णा से	—	अहंकार	अहंकार —	वासना से
कवि —	तृष्णा से	—	वासना		अतृप्ति



मानव — आसक्ति से —	संघर्ष	संघर्ष — सुन्दरता से
कवि — आसक्ति से —	सुन्दरता	भोग

मानव — विरक्ति से —	त्याग	त्याग — तृप्ति से
कवि — विरक्ति से —	तृप्ति	अमरता

मानव — अभिव्यक्ति से —	रचना	रस — रचना से
कवि — अभिव्यक्ति से —	रस	काव्य

भोग —	अतृप्ति से	— मृत्यु
काव्य —	अमरता से	— समाधि
		ब्रह्म

ब्रह्म-मृत्यु के संयोग से जीवन का आरम्भ हो जाता है।

एक उदाहरण से उपरोक्त रेखावृत्त तथ्य पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जायेगा। उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज की लोक यात्रा का विवरण इस सन्दर्भ में प्रस्तुत है। भक्ति-ज्ञान से आनन्द, तृप्ति-त्याग से अमरता, रचना-रस से काव्य, अमरता काव्य से समाधि तथा समाधि-आनन्द के मार्ग से गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ब्रह्मलीन हो गये, वे तपोमार्गी थे, भोगवादी नहीं थे। अतएव उनकी मृत्यु हुई नहीं। फलतः उनके पुनः जन्म धारण करने की कोई स्थिति नहीं है। वे कविर्मनीषी परिभूस्व्यम्भु थे।

मानव जीवन जितना जटिल एवं ग्रन्थिल है यह रेखावृत्त वृत्तान्त उतना पूर्ण एवं विकसित नहीं है। आठ के अतिरिक्त अन्य अनेक वृत्तियां हैं। मानव में कवि तत्व ही नहीं अन्य तत्व भी हैं यथा देव, दनुज, यक्ष, तापस, यति, राजपुरुष इत्यादि। व्यक्ति समाज, देश काल, संस्कार, वंशानुगत गुण, संगति-विसंगति आदि भी जीवन के रंगमंच पर उतरते हैं और अपना-अपना खेल दिखलाते हैं। सबहिं नचावत राम गोसाईं-नाचहिं नर मरकट की नाई। कार्य कारण प्रवाह एवं कर्मजाल में पड़े मानव जीवन पर विचार करने के लिए यह रेखावृत्त वृत्तान्त एक दिशा संकेत मात्र है।

मनुष्य मात्र को अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है और जन्म जन्मान्तर जीवन यात्रा करनी पड़ती है। यह लहर कभी स्थिर नहीं होगी। तरंगित एवं प्रवाहित होते रहना ही इसका धर्म है। अहं और तृष्णा पर काबू पा लेना और निर्वाण पद प्राप्त कर लेना मात्र ही जीवन नहीं है। जीवन संघर्ष की गहराइयों में उतरना ही पड़ता है न दैन्यम् न पलायनम् में पूर्ण विश्वास रखते हुए निष्काम कर्मयोग के मार्ग से मोक्ष के द्वार पर पहुँचे बिना जीवन यात्रा पूर्ण नहीं होती चाहे किसी प्रकार का विनाशकारी अस्त्र-शस्त्र का कौशल कोई क्यों न दिखला ले। मानवीय जीवन की सुव्यवस्था के निमित्त कोई भी तन्त्र अथवा कोई भी मंत्र क्यों न हो व्यक्तिगत रूप से आत्म शक्ति के हेतु सब किसी को अपनी जीवन यात्रा इसी विधि से पूर्ण करना होगा अन्यथा जीवात्मा बेचैन ही रहेगी और कस्मै देवाय हविषा विधेमः की रट कभी बन्द नहीं होगी।



भोजन वस्त्र आवास एक महाभारत

सुधी पाठक काव्य लोक में गहरे उतर कर अपने बुद्धि बल से आनन्द के सर्वथा नवीन, अलौकिक साम्राज्य की स्थापना करते हैं, जिसमें सांस्कृतिक वैभव का विलास एवं विकास निरन्तरता की स्थायी अवस्था में मानवता का परिपोषण करता रहता है। यह निरन्तरता कहीं जड़ता में न बदल जाय इसलिए विरोधी शक्तियाँ सक्रिय और सजग रह कर या तो इस साम्राज्य की स्थापना ही नहीं होने देतीं या स्थापित साम्राज्य को ध्वस्त करने की चेष्टा में लगी रहती हैं। अस्तित्व की सुरक्षा का संघर्ष सनातन है। इसमें सत्य पक्ष की विजय सुनिश्चित है।

संस्कृति न तो दक्षिण पक्षीय होती है, न वाम पक्षीय। संस्कृति न तो प्राचीन होती है न नवीन। संस्कृति न तो निरपेक्ष होती है, न सापेक्ष। संस्कृति अपेक्षेतर अवस्था का नाम है। विद्या और अविद्या के पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पन्न भ्रामक अवस्थाओं को ही दक्षिण अथवा वाम पक्षीय विशेषणों से युक्त किया जाता है। संस्कृति की प्रकृति वास्तव में अवस्था भेद से मुक्त निरुपाधिक होती है। यही कारण है किसी भी देश जाति और युग के साहित्य में स्थायी एवं मौलिक मानव मूल्य समान होते हैं। भिन्नता के ओछे तत्व ओछे विचार वालों को ही दिखते हैं। संस्कृति विचार है, सभ्यता आचार है। विचार में यदि भेद न हो तो आचार का भेद कोई अर्थ नहीं रखता किन्तु जब विचारों में भेद उत्पन्न हो जाता है तब आचार में अभेद की अवस्था भी व्यर्थ हो जाती है। सांस्कृतिक भेदावस्था से आचरण की स्थिति अराजक एवं विस्फोटक हो उठती है।

विद्या और अविद्या माया की कृपा से भेद, विभेद और अभेद की सभी अवस्थाओं का साहित्य होता है। साहित्य यद्यपि सम्यक हित साधन का निमित्त है किन्तु भेद की सभी अवस्थाएँ साहित्य के माध्यम से अपनी अलग-अलग सत्ता स्थापित करने का प्रयत्न करती है। ऐसी स्थिति में साहित्य का मूल उद्देश्य सम्यक हित साधन धूमिल हो जाता है। यही कारण है कि सर्वे भवन्तु सुखिनः के ऊँचे स्तर से बहुजन हिताय बहुजन सुखाय तक आने में कोई वैचारिक झटका नहीं लगता है तथा ईशा वास्य मिदं सर्वं के बदले वर्ग संघर्ष की कल्पना सुखद प्रतीत होने लगती है। चिन्ता भी किस बात की जब सत्य की अन्तिम विजय सुनिश्चित है। आखिर महाभारत के अन्तर से ही तो गीतामृत तत्व की उपलब्धि हुई है। भेद की इन अवस्थाओं के पारस्परिक संघर्षों के मध्य प्रकृति स्वयं एक पक्ष ग्रहण कर लेती है और लड़ने वाली सभी परिस्थितियों को अन्तिम चिरन्तन सत्य की ओर खींच ले जाती है। प्रकृति की इसी चिरस्थायी निषेध शेष शक्ति का नाम श्रीकृष्ण है।

आठ बसुदेवताओं में से द्यौ नामक एक देवता ने अपनी पत्नी के आग्रह पर वशिष्ठ मुनि की कामधेनु को चुरा लिया। वशिष्ठ जी के शाप से उनको मनुष्य के रूप में मृत्यु लोक का कष्ट भोगने हेतु जन्म धारण करना पड़ा। इनका नाम था देवव्रत जो महाभारत में भीष्म पितामह के नाम से प्रसिद्ध हैं। द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद से दूध पीने के लिए एक गाय की याचना की थी। गाय तो मिली नहीं किन्तु द्रोणाचार्य अपमानित अवश्य हुए। द्रोणाचार्य ने अर्जुन द्वारा उनकी सभी गायों को बलपूर्वक अपहरण करा लिया। राजा द्रुपद ने द्रोणाचार्य से बदला लेने के लिए यज्ञ किया। फलस्वरूप कारण रुपिणी, द्रोपदी और कार्यरूपी धृष्टद्युम्न की उत्पत्ति हुई। श्री कृष्ण गोकुल में गाय चराते थे। गोपियों के घर से गोरस चुराकर खा जाते थे। वे नंगी नहाती गापियों की साड़ियाँ भी चुरा लेते थे। दुःशासन, दुर्योधन की भरी सभा में विदुर, भीष्म पितामह और धृतराष्ट्र जैसे वृद्ध महात्माओं की उपस्थिति में सती साध्वी द्रोपदी को नंगी करने के प्रयास में



उसका चीर खींच रहा था। भीष्म ने काशीराज की तीन कन्याओं का मात्र बल प्रदर्शन के निमित्त अपहरण कर लिया और उनकी स्वयंवरण की अभिलाषा को सर्वदा के लिए समाप्त कर दिया। श्रीकृष्ण ने रूक्मणी का, अर्जुन ने सुभद्रा का हरण किया तथा वाणासुर की पुत्री उषा ने श्री कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध का अपहरण कराया। दुर्योधन मानों पाण्डवों पर अत्याचार के लिए ही जन्मा था। उधर शिशुपाल श्रीकृष्ण को भरी सभा में गालियाँ देने लगा था जो उसके वध का कारण हुआ। इसका बदला शाल्व ने लेना चाहा किन्तु श्रीकृष्ण की कूटनीति बीस रही।

ये समस्त घटनाएँ महाभारत युगीन समाज में अराजकता अस्त-व्यस्तता भय और आतंक की स्थिति की द्योतक हैं। महाराज शान्तनु की पत्नी सत्यवती का जन्म जिन उपाधियों के बीच हुआ उनका विकास स्वभावतः जिस ओर होना चाहिए था उधर ही हुआ। महाराज उपरिचर को काम मोहित अवस्था में पितरों की आज्ञा से हिंसक पशुओं का वध करने के लिए वन में जाना पड़ा। वहाँ वन की शोभा देखकर उनकी पत्नी गिरिका की सुधि उनको और भी व्यथित करने लगी। फलतः स्वतः स्खलित वीर्य का मंत्रों से संस्कार करके उसे बाज द्वारा महाराज ने अपनी पत्नी के पास भेजना चाहा किन्तु एक दूसरे बाज की छीना-झपटी से वह मंत्राभिषिक्त वीर्य गंगाजी के जल में अद्रिका नाम की मछली के पेट में गिर पड़ा, जिससे मत्स्यगन्धा सत्यवती जन्मी। उसके जन्म की ये सारी उपाधियाँ यदि महाभारत न होता तो कहाँ जाती। महारानी सत्यवती और भीष्म पितामह के जन्म कारणों का महाभारत के फल के रूप में घटित होना कार्य है। महाभारत विचारों में मतभेद होने से आचार की अराजक और विस्फोटक स्थिति का विस्तृत विवरण है।

महाराज शान्तनु के जन्म कारण पर भी विचार कर लें। इक्ष्वाकु वंशोत्पन्न राजा महाभिष महान सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, यज्ञनिष्ठ और परम पवित्रात्मा थे इन्हीं गुणों के कारण वे स्वर्गलोक के अधिकारी हो गये। एक दिन ब्रह्माजी के दरबार में अन्य देवताओं के साथ ये भी विराजमान थे कि वहीं गंगा जी भी चली आई, वायु के झोंके से गंगाजी का वस्त्र उठ गया। देवताओं ने अपनी दृष्टि नीची कर ली किन्तु महाराज महाभिष गंगा जी के अंगों को एकटक निहारते रह गये। इस पर ब्रह्माजी ने कुपित होकर मनुष्य लोक में जन्म लेने का इनको शाप दे दिया। महाराज महाभिष की इस दशा को देखकर गंगाजी के मन में भी उनके प्रति संवेदनशीलता की भावना उत्पन्न हो गयी। ये ही महाराज महाभिष इन्द्रिय चंचलता के कारण महाप्रतापी राजा प्रतीप के पुत्र के रूप में शान्तनु कहलाए और गंगाजी कुछ अवधि के लिए इनकी पत्नी बनी, जिनसे शापित देवता द्यौ का जन्म हुआ जो देवव्रत या भीष्म कहलाए। महाभिष की इन्द्रिय लोलुपता शान्तनु में स्पष्ट देखी जा सकती है जबकि सत्यवती को देखकर उसको अपनी पत्नी बनाने के लिए उन्होंने सफल सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ दिया। गंगाजी से भीष्म का अथवा सत्यवती से चित्रागंद और विचित्रवीर्य का जन्म इन्द्रिय लोलुपता का परिणाम है। पराशर मुनि से उत्पन्न सत्यवती मत्स्यगन्धा के पुत्र व्यास जी भी इस दशा से मुक्त नहीं हैं। स्वयं सत्यवती की उत्पत्ति भी तीव्र काम ज्वाला के ही कारण है। सीता राम अथवा पार्वती शंकर के विवाह की भाँति इनमें से किसी का विवाह नहीं हुआ। जहाँ मन डिगा जाति, कुल परम्परा की सीमा को लाँघकर समागम की लालसा पूरी कर ली गयी और उत्पन्न सन्तान को कर्म प्रवाह में तैरने के लिए छोड़ दिया गया। महाभारत इसी सुविस्तृत अथाह कर्म प्रवाह का महासागर है जिसमें व्यवहारिक सत्य, ज्ञान एवं स्थाई तत्वों के रत्न तथा गूढ़ विवेचनमृत की अनन्त निधियाँ भरी पड़ी हैं। इसके अवलोकन से प्रकृति की सुन्दर व्यवस्था के प्रति आस्था बढ़ जाती है और जो जस करइ सो तस फल चाखा के सिद्धान्त में विश्वास पुष्ट हो जाता है। श्री कृष्ण को परमब्रह्म परमात्मा का अवतार माना जाता है। मनुष्य के रूप में जन्म लेकर उसकी सभी



अवस्थाओं के मध्य से यह अवतार यात्रा भी गुजरती है। अवतारी महापुरुष को भी साधारण मनुष्यों की भाँति सम्पूर्ण आचरण करना पड़ता है। अवसर आने पर वही रोता गाता है, हृदय की व्यथाओं को व्यक्त करता है। परम ब्रह्म परमात्मा अवतारी महापुरुष श्री कृष्ण को भी अन्य समाज की भाँति अपने आश्रितों तथा भक्तों को आश्वस्त करने के लिए उनके शत्रुओं के मनोबल को ध्वस्त करने के लिए शपथ लेनी पड़ी, प्रतिज्ञा करनी पड़ी। यदि ऐसा न होता तो उनके भक्तों या आश्रितों की, प्रतिकूल विरोधी अवस्थाओं में क्या गति होती ? भक्तों के कार्य के लिए जब भगवान नंगे पैर दौड़ सकते हैं तो प्रतिज्ञा भी कर सकते हैं। भक्तों के तोष के लिए वे अभिव्यक्ति और कृति की सभी विधाओं को अपना सकते हैं। सभी अवतारी माहपुरुषों ने अपने भक्तों के कष्ट दूर करने के लिए प्रतिज्ञाएँ की हैं। निशाचरों के आतंक से पीड़ित मुनि समाज की दुर्दशा को देखकर भगवान रामचन्द्र जी की आँखों में करुणा स्रोत उमड़ पड़ता है। गोस्वामी जी मानस के अरण्य काण्ड में कहते हैं—

निसिचर निकर मुनिन सब खाए
सुनि राजीव नयन जल छाए

तब उन्होंने बाँह उठाकर प्रतिज्ञा की—

निसिचर हीन करौं महि भुज उठाइ प्रन कीन्ह
सकल मुनिन्ह के आश्रमहि जाइ जाइ सुख दीन्ह ।

अपने भक्त सुग्रीव की कष्टगाथा को सुनकर भगवान श्री रामचन्द्र की दोनों भुजायें फड़क उठी और उन्होंने उसके कष्ट को दूर करने का निश्चय लिया—

सुनि सेवक दुख दीन दयाला,
फरकि उठी द्वौ भुजा विसाला ।

महाभारत के प्रणेता स्वयं वेदव्यास जी ने वन पर्व के अर्जुनाभिगमन पर्व में लिखा है कि द्रौपदी को आश्वस्त करते हुए भगवान श्री कृष्ण ने वीरों के उस समुदाय में इस प्रकार कहा अथ ताम्रब्रवीत कृष्णस्तस्मिन् वीर समागमद्—

रोदिष्यन्ति स्त्रियो ह्येवं येषामक्रुद्धासि भामिनि
वीभत्सुशरसंछन्नाः छोणितौघ परिप्लुतान् । 128 ।

निहतान् वल्लभाम वीक्ष्य शयनान् वसुधातले
यत्समर्थ पाण्डवानां तत् करिष्यामि मा शुचः । 129 ।

भामिनि ! तुम जिन पर क्रुद्ध हुई हो, उनकी स्त्रियाँ भी अपने प्राण प्यारे पतियों को अर्जुन के वाणों से छिन्न-भिन्न और खून से लथ-पथ धरती पर तड़पते देख इसी प्रकार रोयेंगी। पाण्डवों के हित से लिए जो कुछ भी सम्भव है वह सब करूँगा। शोक न करो।

यह बात मात्र कथन होकर ही न रह जाए, भक्तों के मन से इस संशय की अवस्था का निराकरण करने के लिए भगवान श्री कृष्ण इस प्रतिज्ञा वाक्य का उद्घोष करते हैं—

सत्यं ते प्रति जानापि राज्ञां रज्ञी भविष्यसि
पतेदद्यौहिमवाः छीर्येत् पृथिवी शक्लीभवेत् । 130 ।

शुष्येत् तोयनिधिः कृष्णे न मे मोघं वचो भवेत्

मैं सत्य प्रतिज्ञा कर रहा हूँ कि तुम राजरानी बनोगी कृष्णे, आसमान फट पड़े, हिमालय पर्वत विदीर्ण हो जाय, पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायें और समुद्र सूख जाए किन्तु मेरी यह बात झूठी नहीं हो सकती।



महा विपत्ति के सागर में डूबते हुए अपने प्राणों से भी प्रिय भक्तों के उद्धार के निमित्त श्रीकृष्ण के मुख से सत्य ते प्रति जनामि राज्ञां राज्ञी भविष्यसि का प्रतिज्ञा वाक्य फूट पड़ा जो भीम द्वारा दुःशासन के रक्तपान से आधा और भीम द्वारा ही दुर्योधन के वध पर पूर्ण रूप से सिद्ध हुआ।

क्या महाभारत टाला नहीं जा सकता था ? महाभारत युग की दो सर्वश्रेष्ठ विभूतियों को भी इसके पक्ष में उतरना पड़ा और पूर्ण विनाश होकर रहा। इनमें से एक भीष्म पितामह थे जो कौरवों और पाण्डवों दोनों प्रतिपक्षियों के बाबा थे, दोनों ही पक्ष भीष्म पितामह के नाती थे। दूसरे स्वयं परम् ब्रह्म युगावतार भगवान श्रीकृष्ण थे। श्रीकृष्ण ने महाभारत टालने का प्रयत्न यथा-शक्ति किया किन्तु उनकी एक न चली। वीतराग महात्मा विदुर प्रतिपक्षियों के चाचा को छोड़ दुर्योधन के पक्ष के किसी ने भी उनका सक्रिय समर्थन नहीं किया। यदि भीष्म पितामह और महात्मा विदुर तथा श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को तथ्य समझा दिया होता तो निश्चय ही युद्धाग्नि बुझ गयी होती। महाभारत युग में भीष्म पितामह से बढ़ कर कोई वीर नहीं था। भगवान श्रीकृष्ण को भी उनके सम्बन्ध में सोचना पड़ता था। परशुराम ने भी युद्ध में भीष्म की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली थी। दुर्योधन को अपने बाबा भीष्म पितामह पर पूरा विश्वास था। जब बाबा हैं ही पक्ष में तो पराजय का प्रश्न ही कहाँ उठता है। श्रीकृष्ण पाण्डवों की ओर से रहे। उनकी सेना तो दुर्योधन की ओर माँग ही ली गयी थी। पुनः श्रीकृष्ण को असाधारण व्यक्ति तो कौरवादि मानते थे किन्तु वे परम्ब्रह्म परमात्मा के रूप में उनको स्वीकार नहीं करते थे। भीष्म पितामह को ही श्रीकृष्ण की वास्तविकता का सही पता था। यदि ऐसा न होता तो शान्ति दूत बन कर आए हुए भगवान श्रीकृष्ण को गिरफ्तार कर लेने का दुस्साहस वह नहीं करता। यदि एक वीर पाण्डवों के पक्ष में ऐसा हो भी तो उसके बदले में दुर्योधन के पास भीष्म पितामह के अतिरिक्त अनेक वीर थे जो महाभारत जीत लेते। महारथी कर्ण और आचार्य गुरु द्रोण किससे कम थे। दोनों के गुरु, दोनों के बाबा और स्वयं भगवान महाभारत होने से रोक नहीं सके। भगवान ने तो अपना दोष छुड़ा लिया किन्तु गुरु और बाबा व्यक्तिगत कारणों से ऐसा करने में असमर्थ रहे। यदि दुर्योधन और युधिष्ठिर का दोष मान लिया जाय तो इनको धारण करने वाला अर्थात् दोषी कौन ? महाभारत का उत्तरदायी कौन था ? क्या दोनों के बाबा और दोनों के गुरु का ऐसी परिस्थिति में पक्ष या विपक्ष में लड़ने के अतिरिक्त दूसरा कोई कर्तव्य नहीं रह गया था? दानों पक्षों को लड़ने दिया गया होता और वे स्वयं इससे हट गये होते तो जितनी भीषण और संहारकारी विनाश लीला हुई उतनी नहीं हुई होती और सम्भव था कि मामला सुलझ भी गया होता।

भीष्म ने धृतराष्ट्र के पुत्रों का साथ क्यों दिया। उन्होंने पाण्डु के पुत्रों का साथ क्यों नहीं दिया ? अथवा तटस्थ क्यों नहीं हो गए ? ज्ञात है कि भीष्म शापित देवता द्यौ थे। अन्य वसु देवताओं को उनके जन्म के साथ ही मोक्ष मिल गया था किन्तु द्यौ को अनेकानेक भौतिक उपाधियों के बीच रह कर संसार का कष्ट झेलना था। इसलिए उन्हें राज्यत्याग और ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करनी पड़ी। ये दोनों महान कार्य उनके देवता होने के कारण हुए। यदि वे द्यौ नहीं रहते तो वे कभी भी ऐसी भीषण प्रतिज्ञा नहीं करते। किन्तु शाप के प्रभाव से उनको भौतिकता का कष्ट पूरा-पूरा झेलना था इसलिए वे संगति-दोष जनित अवस्थाओं में आद्यन्त उलझे रहे। यदि उन्होंने पाण्डु पुत्रों का साथ दे दिया होता तो महाभारत युद्ध की सलतुलन शक्ति ही बिखर गयी होती। तब तो पाण्डु पुत्रों की शक्ति के आगे दुर्योधन का पक्ष बहुत दुर्बल और क्षीण पड़ गया होता। स्वयं पाण्डु पुत्र अपने इतर भाइयों की अपेक्षा कहीं अधिक बलवान थे। उपर से उनके साथ कृष्ण भगवान भी थे ही। यदि भीष्म तटस्थ ही हो गये होते तो भी महाभारत की उग्रता और प्रखरता समाप्त हो गई होती। चूंकि भीष्म दुर्योधन के पक्ष में थे और श्री कृष्ण पाण्डु-पुत्रों



के पक्ष में इससे रस्सा-कसी की दोनों टीमों धुरन्धर और विकट बन गयी थीं और महाभारत में जीत हार में संशय की स्थिति अत्यन्त तीव्र हो उठी थी। यदि पाण्डु पुत्रों के साथ श्रीकृष्ण न होते तो दुर्योधन, भीष्म, द्रोण और कर्ण के बल पर अजेय था। शाप के प्रभाव से ही भीष्म श्रीकृष्ण के वास्तविक स्वरूप को जानते हुए भी अपने उस नाती के साथ हो गये जो हठी स्वभाव के कारण लड़ाई के मैदान में प्रबल प्रतिपक्षी के विरुद्ध उतर आया। ऐसी अवस्था में यदि भीष्म ने भी उसका साथ छोड़ दिया होता तो उनकी दीनता की स्थिति असहाय हो उठती। उधर से भी कृष्ण और इधर से भीष्म पितामह को मनुष्य जन्म धारण करने के कारण होने वाले भौतिक कष्टों से मुक्ति मिल गयी होती जिनको भोगने के लिए ही वे द्यौ से देवव्रत बने थे। ऐसा लगता है कि महाभारत को जन्म देने वाले महाराज शान्तनु, इसको धारण करने वाली महारानी सत्यवती और इनको पोसने-पालने-सीचने वाले भीष्म दैवी उपाधियों के बीच महाकवि की विराट कल्पना में उत्पन्न हुए तथा आसक्ति मोह और भोग की कामना के प्रतीक महाराज शान्तनु अनासक्त आकस्मिक वासना की प्रतीक महारानी सत्यवती तथा संगति दोष से अनुचित एवं अवैध मार्ग पर अग्रसर होने के प्रतीक भीष्म पितामह तत्त्व थे जिनके संघात-संगठन के फलस्वरूप लोक कल्याण के उद्देश्य से ज्ञान-विज्ञान, व्यवहार, मर्यादा, सामाजिकता, वैयक्तिकता, धार्मिकता आदि की करुणामयी धाराएं प्रवाहित हुईं जो युग युग से मानवता की आत्मा का सिंचन करती हैं और भटके हुए मानव मन को सत्यमार्ग पर प्रेरित करता है। भीष्म पितामह ने यदि दुर्योधन का साथ न देकर और कुछ किया होता तो संसार को अथाह अगम्य अपार ज्ञान का सागर रूपी महाभारत उपलब्ध न हुआ होता। महाभारत के सभी पात्र इसी दृष्टि से वास्तविक हैं। महाभारत क्षणिक, वेगवती बनने बिगड़ने वाली घटनाओं की विवरणिका नहीं यह शाश्वत ज्ञान की अजस्र एवं अनन्त धारा है। इसके पात्र अपनी अपनी जगह वैज्ञानिक-सत्य लिए हुए स्थिर हैं। यही कारण है कि इसका खल पात्र दुर्योधन, इसके नायक अर्जुन से मानव होने की दृष्टि बिन्दु से कम नहीं प्रिय है, कम नहीं आकर्षक है। सैद्धान्तिक स्तर पर होने वाले दोनों की टकराहट सत्यासत्य के विवेचन कार्य में विवेक की गति को अवरुद्ध कर देती है। यही तथ्य महाभारत को क्लासिकल बना देता है और इसको पाँचवा वेद उद्घोषित करता है। भीष्म पितामह यदि न हुए होते तो महाभारत ही नहीं हुआ होता।

श्रीकृष्ण जैसे ब्रह्माण्ड व्यापी विराट व्यक्तित्व एवं प्रशान्त व्यक्तित्व लिए अद्भुत ज्ञानी और बलशाली भीष्म जैसे दैवी फरुषों द्वारा सुनियोजित, प्रेरित, संचालित एवं नेतृत्व कृत धर्म सम्मत महान समर की गाथा ही महाभारत है जिसमें भीष्म पितामह, भगवान श्रीकृष्ण और महाभारत का त्रिवेणी संगम एक दिशा में प्रवाहित होकर ब्रह्म ज्ञान के महासागर में विलीन हो जाता है। वैसे तो भगवान श्रीकृष्ण स्वयं ही महासागर हैं किन्तु इस तथ्य का सम्यक ज्ञान भीष्म के अतिरिक्त और किसी को नहीं था। इस सन्दर्भ में पाण्डु-पुत्रों एवं गोपियों के प्रमाण का महत्व नहीं है, क्योंकि वे तो भगवान श्रीकृष्ण के सहज भक्त थे। इनकी भक्ति भावना में निरुपाधिक थी। वे पूर्णरूपेण श्री कृष्णमय हो चुके थे। इतर जन को उनके भगवान होने में संदेह था। भीष्म इन सब से भिन्न थे।

यह तथ्य इस सन्दर्भित प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है—

शर शैय्या पर पड़े महाबली भीष्म पितामह के पास पाण्डवादि के साथ श्रीकृष्ण भगवान गए। उन्होंने उनका कुशल समाचार पूछा और कहा कि आप समस्त धर्मों के रहस्य, वेद, वेदांग, अर्थ, काम, मोक्ष— सबका तत्त्व जानते हैं। आपके समान गुणी मनुष्य संसार में न देखा गया है और न सुना गया है। आप अपने तपोबल से जगत की सृष्टि कर सकते हैं। बन्धु-बान्धवों का संहार होने के कारण धर्म राज युधिष्ठिर इस समय शोकाकुल हो रहे हैं। आप सभी धर्मों का



रहस्य जानते हैं। उनकी शंकाओं का समाधान करने वाला कोई दूसरा नहीं दीखता। आप कृपा करके उनके शोकाकुल चित्त को शान्त कीजिए। भीष्म ने तनिक सिर उठाकर अंजलि बाँधकर श्रीकृष्ण से कहा— आप समस्त कारणों के कारण और सबके परम निदान हैं। आप प्रकृति से परे और प्रकृति में व्याप्त हैं। आप सबके आश्रय हैं और नित्य एक रस अविनाशी सच्चिदानन्द है। आपकी शक्ति अनन्त है। अलसी के फूल के समान आपका साँवला शरीर मुझे बहुत ही प्रिय लगता है। उस पर पिताम्बर की शोभा तो ऐसी मालूम होता है मानों वर्षाकालीन मेघ पर बिजली स्थिर होकर बैठ गई है। मैं परम् भक्ति से सच्चे हृदय से आपकी शरण हूँ। भगवान श्रीकृष्ण ने उनको अपने दिव्य शरीर का दर्शन दिया और यह कहते हुए उनसे धर्मोपदेश देने का अनुरोध किया कि वाणी के घाव के कारण शरीर में थोड़ी पीड़ा है तो मैं आपको यह वरदान देता हूँ कि आपकी ग्लानि, मूर्छा, जलन और भूख—प्यास मिट जाए। आपके हृदय में सर्व ज्ञान जाग्रत हो जाएँ। आपकी बुद्धि निर्मल हो जाए, आपके मन से रजोगुण और तमोगुण हट जाएँ केवल सत्त्वगुण ही रह जाए। आप धर्म और अर्थ के सम्बन्ध में जितना ही विचार करेंगे आप की बुद्धि उतनी ही बढ़ती जाएगी। आपको दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जायेगी और आप सब वस्तुओं का रहस्य जान सकेंगे।

यदि महाभारत सुनियोजित, सुचालित, प्रेरित और नेतृत्वकृत न होता हो परिणाम का पूर्व ज्ञान होते हुए भी भीष्मपितामह और आचार्य द्रोण अपने ही नाती और अपने ही शिष्य तथा भगवान श्रीकृष्ण के विरुद्ध समर भूमि में नहीं उतरते। महाभारत की भूमिका में गौ माता का अपहरण एक मात्र विषय है। महाराज द्रुपद और द्रोणाचार्य में इसी हेतु युद्ध हुआ जिसका बदला लेने के लिए यज्ञ कुण्ड से द्रौपदी और घृष्टद्युम्न का जन्म हुआ। द्यौ ने वशिष्ठ की कामधेनु का अपहरण कर लिया जिसके कारण वसुदेवता द्यौ को भीष्म के रूप में शापित जीवन व्यतीत करते हुए गाय का अपहरण कराने वाले गुरु द्रोण से मिल कर महाभारत का युद्ध लड़ना पड़ा। द्रौपदी महाभारत की दैवी प्रेरणा थी। महाभारत कराने के लिए ही कारण रूप में वह यज्ञ कुण्ड से मंत्र बल द्वारा उत्पन्न की गयी थीं द्रौपदी को निर्वस्त्र करने का प्रसंग बहुत कुछ अलंकारिक वर्णन जैसा प्रतीत होता है। उसको निर्वस्त्र करने का अर्थ महाभारत का कारण ढूँढना है। भाई—भाई के झगड़े में उसको ललकारने और युद्ध को प्रेरित तथा उत्तेजित करने की क्या आवश्यकता थी। कुन्ती और सुभद्रा भी तो पाण्डव पक्ष की ही नारियाँ थी किन्तु उनमें द्रौपदी जैसा उद्वेग नहीं था। स्पष्ट है कि द्रौपदी महाभारत का दैवी कारण थी, देव प्रेरित थी। गाय के अपहरण का यह युद्ध द्रौपदी के चीरहरण का युद्ध बन गया। द्रौपदी का चीरहरण गाय के अपहरण की घटना के साथ सटा हुआ है। उसका चीरहरण भी गाय के अपहरण कर्ताओं, भीष्म और द्रोण के समक्ष ही हुआ। जो व्यक्ति गाय के अपहरण काण्ड का नायकत्व करता है वह इस अपहरण का बदला लेने के लिए उत्पन्न द्रौपदी के चीरहरण काण्ड का विरोध किस प्रकार कर सकता है। इसीलिए भीष्मपितामह को उस समय धर्माधर्म—विवेचन करने में कठिनाई प्रतीत हो रही थी।

द्रौपदी अपने महान अजिया श्वसुर भीष्म पितामह से न्याय की भीख माँग रही है, सतीत्व की रक्षा की गुहार कर रही है, उनसे कर्तव्या—कर्तव्य का विवेचन चाहती है। भीष्म पितामह उत्तर देते हैं—

न धर्म सौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्रोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्व
स्त्रियाँश्च भर्तुर्वशता समीक्ष्य 47, सभापर्वणि : द्यूतपर्व



सौभाग्यशालिनी बहू, धर्म का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्न का ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है वह पराए धन को दाँव पर लगा नहीं सकता, परन्तु स्त्री को सदा अपने स्वामी के अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातों पर विचार करने से मुझसे कुछ कहते नहीं बनता। इसी प्रसंग में भीष्म पितामह स्वपक्षी शकुनि के मनुष्यों में अद्वितीय जुआड़ी होने की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि शकुनि ने प्रेरित करके युधिष्ठिर को तुम्हें दाँव पर रखवाया है परन्तु युधिष्ठिर इसे शकुनि का छल नहीं मानते, अतः मैं तुम्हारे प्रश्न का विवेचन नहीं कर पाता हूँ। द्रौपदी विलखती हुई सभा में कह रही है :

मृष्यन्ति कुरुवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम्
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम्

7, सभापर्वणि : द्यूतपर्व

मैं कुरुकुल की पुत्रवधू एवं पुत्री तुल्य हूँ। सताये जाने योग्य नहीं हूँ। फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन कर रहे हैं। मैं समझती हूँ कि बड़ा विपरीत समय आ गया है। इसके उत्तर में पुनः भीष्म पितामह कहते हैं कि कल्याणि, मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्म की गति बड़ी सूक्ष्म है। लोक में विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठाक नहीं जान सकते—

बलवांश्च यथा धर्म लोके पश्यति फरुषः
स धर्मो धर्म वेलायां भवत्यभिहतः परः

15 सभापर्वणि : द्यूतपर्व

संसार में जिसको बलवान मनुष्य धर्म समझता है, धर्म विचार के समय लोग उसी को धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है वह बलवान पुरुष के बताए गए धर्म से दब जाता है। अतः इस समय कर्ण और दुर्योधन का बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है विदुर जी ने सभासदों को सावधान करते हुए पहले ही कह दिया था—

अर्द्ध हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु
पादश्चैव सभातुस्य न निन्दन्ति निन्दितम्

78 सभापर्वणि : द्यूतपर्व

जो धर्मज्ञ पुरुष सभा में जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्न का उत्तर नहीं देता वह झूठ बोलने के आधे फल का भागी होता है। सभा में जो अधर्म होता है उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करने वालों का मिलता है और एक चतुर्याश उन सभासदों को प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुष की निन्दा नहीं करते हैं।

जहाँ सब चुप लगा जाते हैं वहाँ कवि बोलता है। जहाँ सृष्टि काँप उठती है वहाँ स्वयं प्रकृति निर्णय लेती है। द्रौपदी की असहायावस्था पर सृष्टि को पलट देने की शक्ति रखने वाली महाबली पांडवों की विवशता पर दीन दुखी अबला की आर्तपुकार पर, धर्मज्ञ महान तत्त्ववेत्ता महात्मा भीष्म पितामह की मूकतावधिरता पर कवि कृष्ण से नहीं रहा गया। तात्कालिक सुव्यवस्था के उपरान्त उन्होंने प्रतिज्ञा की तत्पश्चात् गीता लिखी और गायी और उसके विषयतत्त्व को अर्थात् कर्मयोग को प्रयोग में उतार दिया। कविता रचना है। इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध आचरण से है। कविता तत्त्व पहले कवि का निर्माण करता है जिसके पश्चात् वह अपनी निर्मिति द्वारा स्वेच्छया रचना करती है जिसके अनुसार सृजन, सम्भरण एवं संवरण की प्रक्रिया के क्रम में सृष्टि क्रिया स्वतः परिचालित होती रहती है। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति से लेकर 'जब जब होहिं धर्म के हानी'..... तक न काव्य रचना कभी रुकी है और न कभी रुकेगी।



महाभारत घटना सत्य हो या न हो इसके जीवन सत्य होने में कोई संशय नहीं है। महर्षि वेदव्यास जी के युग से लेकर अब तक जाने कितनी बार महाभारत घटित हो चुका है। द्रौपदी का निर्वस्त्र किया जाना एक ऐसा जीवित सत्य है जो भीम द्वारा दुःशासन के रक्तपान के उपरान्त भी समरूपता के सिद्धान्त के अनुसार फनः घटित होता रहता है।

भीम द्वारा दुःशासन का वध और उनका रक्तपान तथा रक्तस्नान एवं दुःशासन के रक्त से द्रौपदी का शृंगार प्रकृति के अन्तर्दाह की परितृप्ति का बाह्य प्रकट रूप है और श्री कृष्ण प्रतिज्ञा की पूर्णता का उद्घोष है जिसका एक मात्र सन्देश यही है कि जो भी प्रकृति की सुव्यवस्था को तोड़ने का प्रयास करता है उसका परिमाणभेद के सिद्धान्त के अनुसार यही अन्त होता है। प्रकृति कभी क्षमा नहीं करती। विरोधी तत्व को तोड़कर वह उसे पुनः अपनी सुव्यवस्था का अंग बना लेती है। प्रकृति की विभूति का वैभव और ऐश्वर्य महान है। प्रकृति की आन्तरिक सुव्यवस्था शाश्वत और पूर्ण है। प्रकृति के उपर अन्य कोई व्यवस्था अब तक कायम नहीं की जा सकी। जिसने भी इस प्रकार का दुस्साहस किया उसको स्वयं प्रकृति ने ही मिटा डाला चाहे वह महापण्डित रावण रहा हो या हिरण्यकश्यप रहा हो या कंस। इनके लिए प्रकृति स्वयं उतर आती है वह कभी राम बन जाती है, कभी नरसिंह बन जाती है और कभी श्रीकृष्ण। शर-शैय्या पर पड़े धर्मोपदेश करते हुए भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर आदि को बतलाया कि—

संसार में जितने प्रकार के धर्म हैं सब श्रीकृष्ण से ही निकले हैं। श्रीकृष्ण ही प्रकृति हैं और श्रीकृष्ण ही विकृति हैं। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई व्यक्ति नहीं है। वे जीव हैं, वे ब्रह्म हैं। वे ही परमात्मा हैं। वे ही माता-पिता, भाई बन्धु, सुन्नदय-सखा, पति-पुत्र सब कुछ हैं। उन्हीं का ध्यान, उन्हीं का स्मरण, उन्हीं का चिन्तन, उन्हीं की जप, उन्हीं का कीर्तन, उन्हीं का आश्रय, उन्हीं की शरण, उन्हीं का भजन, उन्हीं का सेवन, भैया बस यही परमार्थ है यही स्वार्थ है। यही सब कुछ है। यही सब आदेश और उपदेशों का सार है। इससे बढ़ कर और कुछ नहीं है। तुम और सब लोग इनकी ही उपासना करें। बस, हमें और कुछ नहीं कहना है।

श्रीमद्भागवत पुराण गजेन्द्र मोक्ष अष्टम स्कन्ध का यह श्लोक भी इसी अन्तर्भाव की पुष्टि करता है, यथा—

सर्वन देवासुर मर्त्य तीर्यघ्न स्त्री न संडो न पुमान्न जन्तुः ।

नायं गुणः कर्म न सन्न चा सन्निषेधशेषो जयतावंशेषः ॥

वह परमेश्वर देवता नहीं, असुर नहीं, मनुष्य नहीं, तिर्यग्योनि नहीं, स्त्री नहीं, पुरुष नहीं, हिजड़ा नहीं, कोई जन्तु नहीं, कोई क्रीड़ा नहीं, चौबीस गुणों में से कोई गुण भी नहीं, पाँच कर्मों में से कोई कर्म भी नहीं, असत् और सत् दोनों ही नहीं। तो वह ब्रह्म है क्या ? अर्थात् नहीं है इसीलिए वह अशेष है। जो शेष है ही नहीं वह अशेष मेरी जय करें।

सब में एक रहे

पुनः सब किसी अन्य एक में रहे

और वह एक किसी में न रहे

यही अनुभव ज्ञान है

इसी का बखान करो

पहचान करो, कव्य की आत्मा कौन है ?

अश्वमेध यज्ञ-मोती बी.ए.

भगवान वासुदेव यह भलिभांति जानते थे कि महाभारत अवश्यम्भावी हैं दुर्योधनादि सभी मारे जाएँगे। दैव प्रेरित सभी कारण युद्ध की परिस्थितियों को अधिक प्रखर एवं उग्र बनाते जा रहे हैं। भगवान को भी अपनी सृष्टि से बहुत मोह होता है। इसीलिए वे सम्हलने का अवसर



बार-बार देते हैं किन्तु अहंकार के वशीभूत क्षुद्र प्राणी जब इस दैवी संकेत को नहीं समझता है तो वे अत्यन्त दयार्द्र होकर उसे अपनी गति प्रदान कर देते हैं। प्रकृति विरोधी शक्तियाँ अन्ततोगत्वा प्रकृति के सुविस्तृत अखण्ड साम्राज्य में विलीन हो जाती हैं। महाभारत के बाद राजागण, ब्रह्मज्ञानी एवं अध्यात्मवादी हो चले थे। राजनैतिक भोग-वादिता की निस्सारता को वे भलीभाँति समझ गये थे। किन्तु मदोन्मत्त अहंकारी दुर्योधन भगवान श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को नहीं समझता था। साधारण दूत समझकर उनको गिरफ्तार कर लेने का उसने आदेश दिया। भगवान श्रीकृष्ण ने ब्रह्माण्डव्यापी अपना रूप धारण कर लिया। प्रकृति स्वरूप भगवान कुछ समय के लिए प्रकृति में फैलकर व्याप्त हो गए और उन्होंने दुर्योधन को चेतावनी दी।

फ्रान्स की राज्य क्रान्ति अर्वाचीन काल में विश्व में होने वाली सभी राज्य क्रांतियों की जननी है। पेरिस का राजपथ रोटी के लिए होने वाले आन्दोलनों में मानव शोणित में डूब गया था। प्राचीन काल में महाभारत रोटी और सम्मानित नागरिकता के निमित्त छेड़ी गई एक महाक्रान्ति थी जिसमें अवतारी महापुरुष परम्ब्रह्म परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण लोकनायक थे। भोग-लोलुप महाभारत कालीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति को रक्त-क्रान्ति के महासागर में डूबने से श्रीकृष्ण ने बचा लिया और गीतामृत तत्व का वह अमर वरदान दिया जो भारतीय समाज के ही लिए नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिए अभय कवच बन गया। दुष्टता पूर्ण कुटिल षडयन्त्रकारी स्वार्थतन्त्र को समर बल के उन्माद में चलाने के लिए योजनाओं का जाल बिछाने के कारण सुयोधन, दुर्योधन के नाम से फकारा जाने लगा और उसकी इन योजनाओं को बड़े उत्साह से कार्यान्वित करने वाले शासन तन्त्र का अधिकारी दुःशासन के नाम को सार्थक करने लगा जिसमें आचार्य द्रोण और सेनापति कर्ण अपने अपने व्यक्तिगत स्वार्थपूर्ण कारणों से इस अधम शासन तंत्र के मजबूत पाये बने हुए थे। बहुमत भी इसी तन्त्र के साथ था। पाण्डव रोटी और सम्मानित नागरिकता की भीख माँगने जब भी दुर्योधन या धृतराष्ट्र या भीष्म पितामह की ड्योढ़ी पर जाते दुत्कार दिये जाते थे। जनमत मन से तो पाण्डवों के साथ था लेकिन प्रकट रूप से इनके पक्ष में मुँह नहीं खोल पाता था। ऐसी स्थिति में लोकनायक भगवान श्रीकृष्ण ने सत्य धर्म और भाग्य के नाम पर भकुआ बने पाण्डवों का साथ दिया।

यदि प्राण और आत्म सम्मान बचा रहे तो रोटी के लिए नरमेध को कुछ समय के लिए टाला जा सकता है। किन्तु मरता क्या न करता की स्थिति में जो न हो जाए अकल्पनीय है। दिनकर जी ने महाभारत का कारण पाँच ही असहिष्णु नर के रोष को बतलाया है। यदि कौरवों ने भाइयों ने द्रोपदी का अपमान न किया होता तो सम्भवतः पाण्डव युद्ध स्तर पर न उतरे होते। इसी कारण महाराज युधिष्ठिर ने धर्म की व्याख्या करते हुए यक्ष से कहा कि धर्मस्व तत्त्वं निहितं गुहायां और 'महाजनो येन गतः स पन्था'। धर्म-कर्म की यह आप बीती है। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म कोई चीज नहीं हैं और यदि है तो अव्यवहार्य है। क्योंकि वेद शास्त्र पुराण अवतारी ब्रह्म फरुष और साहित्यकारों ने समवेत ध्वनि से यह स्वीकार किया है कि यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत, अभ्युत्थानाय धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं अथवा जब जब होंहि धर्म के हानि। बाढ़हिं असुर महा अभिमानी।। तब तब प्रभु धरि मनुज सरीरा। हरहिं कृपा निधि सज्जन भीरा।' रोटी के लिए भी युद्ध अपरिहार्य है। आत्म सम्मान और प्राण का रोटी के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। जियेंगे तभी तो आत्म सम्मान और जीवन प्राण की रक्षा कर सकेंगे। महाराज युधिष्ठिर ने यक्ष से सुखी जीवन की व्याख्या करते हुए यह बतलाया कि पंचमेदुहनि षष्ठे वा शांक पचति बैगृहे, अनृणी चा प्रवासी च स च वारिचर मोदात। पांच-छः दिन पर साग सत्तू खाने को मिल जाए किन्तु किसी का दृण न हो अपने पर और जो न परदेश का दुख भोगे, हे यक्ष, वही सुखी है। महाराज युधिष्ठिर की यह नीति भी पलायन की नीति भी पलायन की



नीति है। जिस हालत में पाण्डव बन्धु पड़े हुए थे उस हालत का यह बयान है। यदि मानवों को रोटी कपड़ा मकान जो मूल आवश्यकताएँ हैं जीवन में सुलभ न हों और समाज में चारों ओर विषमता व्याप्त हो तो क्या क्रान्तिकारी विचारधारा उत्पन्न न होगी? यदि ऐसा न हो तो पुनः समाज जड़ और कुण्ठित हो उठेगा। पशु भी जीवन युद्ध में जी मर कर उतरते हैं और जीते हैं। मानव जीवन तब तो पशु जीवन से भी गया गुजरा हो जायेगा। भूखे भजन न होहिं गोपाला अथवा वुभिक्षितः किम् न करोति पापं के अनुसार रोटी का संघर्ष जीवन की पहली शर्त है जिसके लिए सत्ताधीशों, किलाधीशों और मठाधीशों को उत्तरदायी होने से कोई धर्मशास्त्र बचा नहीं सकता।

महाभारत रोटी कपड़ा और मकान के लिए आत्म सम्मान और जीवन रक्षा के लिए छेड़ा गया एक महाअभियान था जिसके केन्द्र में थे स्वयं युगान्तर योगिराज श्रीकृष्ण जी महाराज जो स्वयं ब्रह्म के अवतार थे।

प्रणति

आदर्श न हों तो गढ़े जाते हैं। भारतीय आदर्श दर्शन के रूप में चिरन्तन सत्य की अखिल लोक कल्याणकारी आभा में जब स्वतः भासमान हो तो समझ में नहीं आता हमारा आज का भारतवर्ष उधरिया ज्ञान का क्यों भूखा है ? हमारी सभ्यता और संस्कृति शताब्दियों के निष्ठुर प्रहार से भी जब नष्ट नहीं हुई तो स्वतन्त्र वायुमण्डल में उन अमरतत्वों से हमारा सम्बन्ध क्यों नहीं एक हो पाता ! नये मानव मूल्यों की तलाश की बेचैनी क्यों ? अपने भारतीय परिवेश का पूरा ध्यान रखते हुए जीवन के लिये उपयोगी स्थायी तत्व आज मुस्करा उठे हैं, चार पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पंच महाव्रत—अहिंसा, सत्य अस्तेय, अपरिग्रह ब्रह्मचर्य, तीन ऋण—गुरु ऋण, मातृ ऋण, पितृ ऋण, यज्ञ, मंत्र, हवन के रूप में !

धर्म

धर्म का स्वरूप जितना व्यक्तिगत है उतना ही सामाजिक है, जितना आध्यात्मिक है उतना ही भौतिक है, जितना काल्पनिक है उतना ही वास्तविक है, जितना दार्शनिक है उतना ही वैज्ञानिक है, जितना मानसिक है उतना ही शारीरिक है, जितना आदर्श है उतना ही व्यावहारिक है, धर्म व्यक्ति का जैसा स्वरूप गढ़ता है समाज का भी स्वरूप वैसा ही होता है। धर्म आध्यात्मिकता की जैसी अनुभूति करा पाता है भौतिकता उसी के अनुसार अपना रंग दिखलाती है। जिस सीमा तक कल्पना तथ्यों की गहराई में उतरती है वास्तविकता उसी सीमा तक प्रत्यक्ष होती है। दर्शन के चिन्तन में सत्य जहाँ तक उभर पाता है विज्ञान वहाँ तक मौन अनुसरण करने को प्रस्तुत रहता है। मानस की परिपुष्टता में शरीर की परिपुष्टता भी अपने पैमाने से व्याप्त रहती है। आदर्श व्यवहार में न उतर सके तो वह आदर्श नहीं है। भौगोलिक कारणों से मानव के आकार—प्रकार एवं आहार—बिहार में कुछ भिन्नताएँ सम्भव हैं किन्तु प्राकृतिक कारणों से उसके आचार—विचार में भिन्नता नहीं हो सकती। शीतप्रधान देश में मानव अपने को विभिन्न आवरणों में ढक लेता है किन्तु उष्ण प्रदेशों में मानव अधो वस्त्र से भी काम चला लेता है। इन दोनों ही स्थितियों में उसके मानव होने में कोई कमी नहीं आती। जिस प्रकार विभिन्न भौगोलिक विविधताओं में प्रकृति के शाश्वत नियम समान रूप से घटित होते हैं और भौगोलिक तथा प्राकृतिक नियम मिलकर सृष्टि प्रवाह को व्यवस्थित रूप से संचालित करते हैं उसी प्रकार व्यक्ति



समाज, अध्यात्म भौतिकता, कल्पना, वास्तविकता, दर्शन विज्ञान, मन शरीर, आदर्श व्यवहार मिलकर मानव जगत को व्यवस्थित करते हैं। निखिल सृष्टि एक विराट व्यवस्था के अन्तर्गत होकर स्वयमेव संचालित है। धर्म इसी विराट व्यवस्था का दूसरा नाम है। धर्म कोई धारण करे या न करे, धर्म सबको धरण करता है।

सन्त्रास तब उत्पन्न होता है, जब इस धर्मराज को कोई नृशंस, मानवों की किसी तंग गली में घेर लेता है और उस पर कायरतापूर्ण घृणित वार करने लग जाता है, धर्मराज का शारीरिक अन्त तो हो जाता है किन्तु उनके संकल्प मरने से बच जाते हैं जो शरीर का दूसरा लबादा ओढ़कर पुनः मानवी गलियों में घूमने फिरने और आने जाने लगते हैं। झगड़ा लगा का लगा ही रह जाता है। रामायण काल में ऐसा झगड़ा होना स्वाभाविक था क्योंकि एक मानव था और दूसरा था राक्षस। दोनों एक दूसरे के विलोम नहीं, विरुद्ध। एक का उद्देश्य था प्रकृति के नियमों को उलटना, दूसरे का इसकी शाश्वतता में आस्था दृढ़ करना। एक अधम मूर्तिमान, दूसरा मूर्तिमान धर्म। इस झगड़े में जो होने को शेष था वह महाभारत काल में पूर्ण हुआ। एक संकेत महाभारत का अयोध्या की राजनीति में ही मिल गया था, राम-भरत प्रेम को स्वयंसिद्ध सत्य के रूप में मानकर धर्म-अधर्म युद्ध का सफल संचालन हुआ किन्तु लोकपक्ष में भातृ प्रेम के स्वयंसिद्ध सत्य को महाभारत काल में कसौटी पर चढ़ा दिया गया। महाभारत के पश्चात भाई धर्मराज को हिमालय में जाकर गल जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह गया। किन्तु धर्मराज के साथ धर्म गलने से बच गया। धर्मराजानुसरण से कुत्ता भी स्वर्ग पहुँच गया। धर्म का स्वरूप रामायण काल में अत्यन्त सरल था। स्वार्थों के विषम जाल में वह जकड़ा नहीं था। धर्म और अधर्म का पक्ष स्पष्ट था। अयोध्या धर्म का और लंका अधर्म का केन्द्र था। राम में धर्मावलम्बियों की अनन्य निरुपाधिक भक्ति थी। रावण के पक्ष के बहुतों का धर्माचरण में विश्वास था किन्तु रावण के आतंक से वे विवश थे। स्वार्थपूर्ण नीचता, अहंकार और मद की कुदरती ताकत का रावण प्रतीक था। राम प्रकृति के सत्य, शिव और सुन्दरम् के प्रतीक थे। प्रकृति की दोनों शक्तियाँ विकसित होकर एक दूसरे के अत्यन्त समीप आ गयी थीं। युद्ध अनिवार्य था। अधर्म का नाश और धर्म की विजय निश्चित थी। अधर्म का बुलबुला टूट-फूट कर विनष्ट होता रहता है। धर्म की तरंगे शाश्वत धरा में प्रवाहित होती रहती हैं। रामायण काल में प्रकृति का यह मांगलिक स्वरूप स्पष्ट झलक रहा है।

किन्तु महाभारत काल में व्यवहार एवं लोकपक्ष को लेकर धर्म विषम और जटिल ग्रंथियों में कुछ ऐसा जकड़ सा गया कि शान्तनु से लेकर वृहन्नला, घटोत्कच, शिखण्डी और धृष्टकेतु तक का अस्तित्व खटाई में पड़ा दिखता है। संजय, विदुर कर्ण, धृतराष्ट्र आदि सब के सब जन्म धारण करने के अद्भुत कारणों के गहन गर्त में गिरे दिखते हैं। लिप्सा, भोग और स्वार्थों की भूमि की उपज सूई भर भूमि के निमित्त धरती और आसमान को कँपा डालती है। किन्तु स्वार्थों के इस घोर नग्न ताण्डव के बीच धर्म की शुभ्र किरण अपने दिव्य प्रभाव से मानव जीवन को स्पष्ट दिशा का निर्देश करने में कहीं भी भूलती नहीं। गीता का यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत..... वाला श्लोक अधर्म पर धर्म की विजय का उद्घोष है। भोग-लिप्सा और तप-त्याग, परिवार और स्वार्थ, भ्रातृत्व और मानवता, प्रवृत्ति और निवृत्ति का भयंकर खेल समाप्त हुआ। मानवता के नाम यह स्थायी सन्देश देकर कि संसार में और संसारिकता में आसक्ति नहीं होनी चाहिये। अनासक्त कर्मयोग की शिक्षा देकर, अपना सम्पूर्ण प्रभाव अपने साथ लेकर परवर्ती सम्राटों को दार्शनिक, विवेचक एवं आध्यात्मिक बनाकर यह युग समाप्त हुआ।

धृति अथवा धारणा में उतरना ही धर्म का स्वभाव है। लक्षण या स्वभाव धर्म शब्द का पर्यायवाची माना जा सकता है। सम्पूर्ण सृष्टि धर्मानुकूल आचरण करने को बाध्य है। धर्म का



सर्वोच्च दार्शनिक स्वरूप जाने-अनजाने सृष्टि में सर्वत्र घटित है। वैदिक धर्म की उच्चकोटि की दार्शनिकता धर्म के इसी स्वरूप को मानव जीवन में उतारती है। वैदिक धर्म सत्यांश से नहीं, पूर्ण सत्य से संयुक्त है। उसमें मध्यमार्ग का अवलम्बन नहीं किया गया है, जैसा कि बौद्ध धर्म में। मानव की जीवन धरा को प्रत्येक मोड़ पर निवृत्ति की ओर उन्मुख करना ही वैदिक धर्म का लक्ष्य है। बौद्ध धर्म मानव जीवन को प्रवृत्ति की ओर मोड़ता है। वह नारी को आदि शक्ति न मानकर भोग की वस्तु मानता है। प्रवृत्ति मार्गी होने के कारण ही संघ में नारी के सम्मिलित होने पर बौद्ध धर्म के जिसकी कुल मियाद एक हजार वर्ष निश्चित थी, पाँच सौ वर्षों में ही नष्ट हो जाने की शंका उत्पन्न हो गयी। धर्म की कोई अवधि नहीं होती। सिद्धान्त कभी धूमिल नहीं पड़ते। जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को लेकर नहीं, उसके लोक पक्ष या भोग पक्ष को लेकर ही बौद्ध धर्म की सृष्टि हुई थी। मानव जीवन की एक स्थायी एवं सुनिश्चित व्यवस्था होने के कारण वैदिक धर्म कभी अनृप्त नहीं हुआ। इसके सिद्धान्तों को सम्पूर्ण विश्व ने मान्यता दी। वैदिक धर्म से आज भी मानवता की रक्षा है। किसी भी देश के धार्मिक विचारों के साथ इसका विरोध इसलिए नहीं हो पाता कि सत्य की दिशा में दार्शनिक उड़ान लेने के कारण सबका एक ही बिन्दु पर मिलन हो जाता है। वैदिक धर्म समय की कसौटी पर वैज्ञानिक सत्य होने के कारण सर्वदा खरा उतरा है।

धर्म आचरण में न उतरे तो जीवन का स्वरूप विकृत हो जायेगा। धर्म न तो निरपेक्ष होता है और न सापेक्ष। वस्तुतः, धर्म व्यवहार अपेक्ष्य होता है। व्यवहार में उतरने पर मानव समाज का और युग के साथ चलने के कारण उसका इतिहास भी निर्मित होता है। प्रत्येक देश के धर्म का व्यवहार में उतरने का अपना अपना इतिहास है। विश्व के सभी धर्म मूल में एक हैं। देश, काल, पात्र के अनुसार उनको व्यवहार में अलग अलग ढंग से उतारा गया है। धर्म के नाम पर विश्व में जो खून की होली खेली गयी है, उसको किसी भी तर्क से तोपा नहीं जा सकता। इसाई धर्म में प्रोटेस्टेण्टों और कैथोलिकों के घृणित युद्धों का, सैकड़ों वर्ष तक यरूशलम में चलने वाले इसाइयों और इस्लाम धर्म के मानने वालों के नृशंश युद्धों का जिनको 'क्रुसेड' कहा जाता है, धर्म के व्यावहारिक रूप ग्रहण करने का काला इतिहास है। वैदिक धर्म का भी विरोध भारत में जैन धर्म और बौद्ध धर्म ने किया, किन्तु धर्म के नाम पर खून खराबा की बात कहीं नहीं सुनी जाती। अत्यन्त आधुनिक काल में सिक्ख धर्म का जन्म भारतवर्ष में हुआ किन्तु वैदिक धर्म से इसके भी युद्ध की कोई कथा नहीं है। इस्लाम ने यूरोप में धर्म के नाम पर 'जेहाद' किया और हिन्दुस्तान में भी इसने धार्मिक अत्याचार की कोई सीमा नहीं छोड़ी। हिन्दुस्तान को काफिरों का देश कहा गया। धर्म के व्यवहार में उतारने की अनेकानेक घटनाओं से विरचित इतिहास के पृष्ठ मानवता के निर्दोष खून से रंगे हैं। धर्म और दर्शन के विश्व-प्रसिद्ध ज्ञाता डॉक्टर राधाकृष्णन् ने अपनी पुस्तक 'The Present Crisis of Faith' में लिखा है— Throughout the history of Islam, respect for other faiths has been a persistent tendency. इस्लाम के सम्पूर्ण इतिहास में अन्य धर्मों के प्रति आदर की भावना इसकी दृढ़ सुनिश्चित नीति रही है किन्तु तथ्य इसके पूर्ण विरोधी है। सिद्धान्त तो सभी धर्मों के मूल में एक है। सिद्धान्त आपस में कभी लड़ते नहीं। यदि सिद्धान्त आपस में लड़ें तो वे सिद्धान्त ही नहीं कहलायेंगे। किन्तु उनको व्यवहार में उतारने के तरीकों में जब फर्क होता है तो उलझनें पैदा होती हैं और इसीलिये लड़ाइयाँ होती हैं। ये सारी बातें इतिहास से ही मालूम होती हैं। इस्लाम का इतिहास घोर असहिष्णुता एवं अत्याचार का इतिहास है। अन्य धर्मों के प्रति आदर की भावना इस्लाम को छोड़कर शेष सब में है। डॉक्टर एस राधाकृष्णन् ने अपनी उस पुस्तक में औरंगजेब के कार्यों का



अपवाद के रूप में उदाहरण भी दिया है। इतिहास की घटनायें ही साक्षी हैं कि धर्म के नाम पर अत्याचार करने वाले एवं अपने धर्म के आगे अन्य धर्मों से घृणा करने वाले औरंगजेबों की लिस्ट बहुत लम्बी है। ऐसे महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त से इतिहास भरा पड़ा है। अन्य धर्मों के प्रति आदर की भावना रखने वाले मुसलमान शासक भी हुवे हैं किन्तु उनकी संख्या बहुत ही कम है। हमारी आज की धर्म निरपेक्षता की नीति मात्र धार्मिक प्रतिक्रिया की नीति है। अप्रत्यक्ष रूप से यह सापेक्षता की ही नीति कही जायेगी। धर्म इसीलिये है कि वह व्यवहार में उतारा जाय और इसके व्यवहार में उतरने की पावन कथा से मानव जीवन धन्य हो। चिकनी-चुपड़ी भाषा के आवरण में झूठ की गोली खिलाना अपराध है। सत्य पर पर्दा डालना अधर्म है। प्यार को आसक्ति समझना पाप है।

बौद्ध धर्म की उपयोगिता और वास्तविकता प्रमाणित करने के निमित्त विदेशों में इसके प्रचलित होने का तर्क उपस्थित किया जाता है। जनता ताली पीटती है तो मंचासीन वक्ता या कवि का ललाट चमकने लगता है। किन्तु जनता और जनता की ताली की परिभाषा वह नहीं करता। ताली पीटने वाली जनता आनन्द से विभोर होकर उस विचार या वक्तव्य को प्रोत्साहित करती है जो उपस्थित जनसमूह के योग्य हो। उपस्थित जनसमूह का विचारों के योग्य होना नहीं, विचारों का जनसमूह के योग्य होना आवश्यक है। जनता अपनी सतह से ऊपर उठना नहीं चाहती, विचारों को अपनी सतह से उतर कर जनता के पास जाना पड़ता है। लोक रुचि को समझने की नहीं, उसको स्वीकार करने की अनिवार्यता मंच को जमीन पर लाकर बराबर करती है। जनता ऊँचे नहीं उठेगी, विचार नीचे आने को विवश है, इसी को फिल्म वाले 'बाक्स आफिस' सफलता कहते हैं और इसी के लिये जान देते हैं। जनता जो माल चाहती है वह धड़ाधड़ तैयार होता है। दुनिया ने बौद्ध धर्म को बड़ी मान्यता दी, इसको स्वीकार किया। उस समय के संसार का मानसिक स्तर बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से अधिक समझने के योग्य नहीं था। मध्यम मार्गी और भोगवादी होने के कारण आत्मा-परमात्मा और दस शीलों का जंजाल छोड़कर पाँच शीलों में सिमट कर रहना और अहं तथा तृष्णा से दुनिया को कायम किये रहने का खयाल उन्हें बहुत पसन्द आया। उन्हें यह धर्म बड़ा व्यावहारिक और सरल प्रतीत हुआ। जावा, सुमात्रा, ब्रुनेई, कम्बोडिया, चीन, जापान, तिब्बत, वर्मा आदि पूर्वी देशों में मांसाहार, मद और विषम भोग के साथ साथ तथागत के भी विचारों को स्वीकृति दी। बुद्ध धर्म वहीं रह गया अपने देश से निकल गया। वैदिक भूमि अपने तेज में चमकती रही। इसी प्रकार इस्लाम और इसाई धर्म भी अपने में लड़ते-झगड़ते वैज्ञानिक युग के इस अजायबघर म्यूजियम में भकुआ बन कर रह गये हैं। किन्तु 'समिधा' अपने उपकरण जुटाने में सर्वदा सक्रिय रही।

अर्थ

दस्युराज बाल्मीकि की अर्थोपार्जन की नीति से उनके परिवार के सभी सदस्य तटस्थ थे। सबका लगाव उनके द्वारा उपार्जित अर्थ से था किन्तु कोई भी उनकी अर्थनीति का समर्थक नहीं था। बाल्मीकि को तत्काल अपनी अर्थनीति से घृणा हो गयी। उन्होंने डाका डालना और गरीबों को सताना बन्द कर दिया। न तो उनके परिवार के सदस्य भूखों मरे और न वे ही। उनके जीवन की धारा मोड़ पा गयी। अर्थपूर्ति का आतंक तथा इससे जनित कष्टों का अन्त हो गया। निस्सन्देह यह एक व्यक्तिगत व्यवस्था थी किन्तु इससे लाभ समाज को हुआ। इसी व्यवस्था को यदि सामाजिक रूप प्रदान कर दिया जाय तो इससे वही लाभ सबको होगा जो बाल्मीकि को अथवा उनके परिवार को हुआ।



आज सर्वत्र अर्थ की विषमता का साम्राज्य छाया हुआ है। लूट-पाट, नोच खसोट और तरह-तरह के भ्रष्टाचारों को बोलबाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि सबको यही व्यवस्था प्रिय हो गयी है। दस्युराज बाल्मीकि के परिवार की तरह का परिवार कहीं रह नहीं गया है, जो यह कहता कि हमें तुम्हारी अर्थनीति से घृणा है। जो ऐसा कहते भी हैं वे स्वयं परोक्ष रीति से इसी प्रकार की व्यवस्था के अनुकूल आचरण करते हैं। वह घटना कौन सी होगी जिससे सबको सही अर्थनीति की चेतना होगी। वह घड़ी कब आयेगी ?

जीने के लिये आवश्यक भौतिक पदार्थों में भुक्त होने का गुण है। जिन भौतिक पदार्थों में जीवन की रक्षा करने की शक्ति होती है उन्हीं का भोग किया जाता है। भोगी भोग के द्वारा जीता है। भोग की वस्तुएँ तृप्ति की भाषा में चिर अतृप्त की मार्मिक कथा रहस्यमय ढंग से कहती है किन्तु उसकी भाषा को जीवधारी समझ नहीं पाता। मानव भी किसी अंश तक जीवधारी है। वह भी भोग की सुरम्यता में ऐसा फँस जाता है कि उसके सूक्ष्म संकेतों से वह प्रायः उदासीन रहता है। भोगी और भोग का लगाव गहरा होता है। भोगी भोग में व्याप्त हो जाता है और भोग तो भोगी में ही प्रत्येक दशा में रहने को विवश है।

भोग की वस्तुओं को भोगने वाला मानव यदि अपनी जीवधारी की उपाधि से कुछ ऊपर होता अर्थात् यदि वास्तव में वह मानव होता, मात्र जीवधारी नहीं, तो सम्भवतः चिर अतृप्ति की मार्मिक कहानी का सम्पूर्ण रहस्य उद्घाटित हो जाता। तब अर्थनीति के सिद्धान्तों में प्रच्छन्न शाश्वत सत्य की अनुभूति होती और अर्थ तथा मानव समाज के बीच कल्याणकारी व्यवस्था सहज ही स्थापित हो जाती !

आर्थिक क्षेत्र में होने वाले संघर्षों से अनेक नये नये वर्ग संघर्षों की उत्पत्ति अनिवार्य है। इस वर्ग संघर्ष से गौतम बुद्ध की 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' की व्यवस्था प्रयोग में यदि सफल हो जाय तो भी मिनिशेविक समाज अल्प संख्यक बोलेशेविक बहुसंख्यक समाज के स्वत्व को छीनने के प्रयास से बाज नहीं आयेगा। सर्वे भवन्तु सुखिनः की कल्पना, कल्पना मात्र ही रह जायेगी और जब तक सर्वे सुखिनः न भवन्ति तब तक वर्ग संघर्षों का क्रम चलता ही रहेगा। यह क्रम तब तक नहीं रुकेगा जब तक सर्वे निरामयाः न सन्ति तथा सर्वे भद्राणि पश्चन्ति।

प्रश्न यह है कि हम चाहते क्या हैं ? क्या हम सबका सुख चाहते हैं या केवल कुछ का। क्या हम वर्ग संघर्ष चाहते हैं या शान्ति। हम जीवन को अस्त-व्यस्त करने के लिये ही मानव हैं या जीवन की आन्तरिक सुव्यवस्था के निमित्त। यदि हमें शान्ति और सुव्यवस्था प्रिय है और हम यदि वास्तव में सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ शरीरधारी जीव हैं तो हमें दस्युराज बाल्मीकि की अवस्था से हटना होगा और अपनी अर्थनीति को द्वन्दात्मक भौतिकी के चंगुल से छुड़ाना होगा। बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय के घातक विश्वास को तिलांजली देनी होगी। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की दिशा में मांगलिक अभियान करना होगा।

अस्ति से नास्ति की कल्पना की जा सकती है किन्तु नास्ति से अस्ति की कल्पना नहीं की जा सकती है। अस्ति की परिपूर्णता में ही नास्ति की भी खपत है। अस्ति की परिपूर्णता का ज्ञान नास्ति के भ्रम को दूर कर सकता है। अस्ति स्वयं वर्तमान है तो नास्ति की क्या आवश्यकता। अस्ति से ही निःस्तृत होकर नास्ति स्वयं अस्ति से ही किस हेतु संघर्ष करे ! क्या यह संघर्ष अस्ति का विकास एवं प्रसार करने के लिये होता है ? यदि कल्पना इस प्रकार की हो तो यह नितान्त भ्रामक है। अस्ति में ही जब नास्ति भी व्याप्त हो तो अस्ति नास्ति के संघर्षों से विकास की कल्पना की अपेक्षा हम क्यों न यह मानें कि स्वयं अस्ति ही अपने सम्पूर्ण स्वरूप को विभिन्न रूपों में दरसाता है और निखिल ब्रह्माण्ड में विराट होकर छाया रहता है। जागतिक अर्थ विकास एवं प्रसार उसी एक अस्ति की बहुरूपी अभिव्यक्ति है। विरोधी शक्ति के रूप में नास्ति



की कल्पना से न तो अस्ति के अस्तित्व पर कोई प्रभाव पड़ता है और न तो अर्थ विकास के कार्य में कोई चमत्कारिक सफलता ही प्राप्त होती है। इसीलिये ईशावस्योपनिषद में गाया गया है कि यह सब कुछ ईश्वर का दिया हुआ है। अतएव हमें यह सब कुछ उसी को अर्पित कर देना चाहिये और उसी की आज्ञा से उसके द्वारा त्यक्त पदार्थों का भोग करना चाहिये। किसी के भी धन का अपहरण नहीं करना चाहिये। किसी के धन के अपहरण की उद्भावना जीव कारण से सम्बन्धित है, मानव कारण से नहीं। उपनिषदकार को जीवधारियों के द्वन्दात्मक स्वरूप का पूर्ण पता था इसीलिये उन्होंने पहले से ही इसकी व्यवस्था कर रखी है। यदि 'तेन त्यक्तेन भुज्जीथा' के नियम का पालन सर्वत्र हो तो तथाकथित साम्यवादी कल्पना निरर्थक प्रमाणित हो जायेगी। समझ में नहीं आता कि स्थापित नियम के उपयोगी पक्ष की अवहेलना कर तथा उसके अनुपयोगी पक्ष को अपनाकर किस अर्थनीति का संचालन करने के उद्देश्य से जहरीली नीतियों का प्रसार किया जाता है और संविधान तथा आचरण संहिता के ग्रन्थों को डाल दिया जाता है ?

वेद अर्थात् अर्थ । अर्थ का अर्थ है सारतत्व । सारतत्व का पर्याय है मूलतत्व। मूलतत्व सदैव विद्यमान रहता है। व्याख्याएँ इसी मूलतत्व के विकसित एवं प्रसारित स्वरूप हैं। वेद शब्द का अर्थ ही है मूल अर्थ—तत्व का प्रतिपादन। वेद की शब्दात्मा जो 'विद' धातु है। वह मूलार्थबोध के निमित्त है। सभी भौतिक पदार्थ अथवा अधिभौतिक सत्ताएँ इसी मूलतत्व की व्याख्याएँ हैं। विचित्रता देखिए, द्वन्दात्मक भौतिक सिद्धान्त की वह एक भौतिक पदार्थ को दूसरे भौतिक पदार्थ से टकरा कर अर्थहीन अर्थ का विकास करना चाहता है ? जब तक अर्थ अर्थ में मिल नहीं जाता तब तक व्याख्याएँ निरर्थक हैं। अतएवं अर्थनीति भी ऐसी होनी चाहिये कि इससे मूलतत्व को समझने में सहायता मिले। वेद भूमि भारत के निवासी व्यर्थ की भौतिक मायाजाल के बीच फँस गये हैं। अर्थ की समस्या जटिल नहीं है। अर्थ को अर्थ से जोड़ते ही सुन्दरतम अर्थनीति स्वतः निर्मित हो जायेगी, जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के संचालन का सबल आधार मिलेगा, अन्यथा जो विभीषिका अर्थ के नाम पर मची है उससे सृष्टि का संहार रोका नहीं जा सकता।

काम

काम निरपेक्ष, निर्विकार, अद्वैत स्वरूप है। शिव की सत्ता का वही मूलाधार है, इसीलिये शिव का पर्याय एकलिंग अथवा ज्योर्तिलिंग माना जाता है। काम का स्वरूप सापेक्ष विकारयुत और द्वैत नहीं है। काम तादात्म्य एवं तल्लीनता की गरिमामयी उच्चतम मनःस्थिति का नाम है। इसी उच्चतम मानसिक स्थिति में योग की साधना होती है। व्यायामशालाओं में व्यायाम के अभ्यास होते हैं। देश-प्रेम के लिये प्राणों का उत्सर्ग होता है। सिद्धान्तों की बलिवेदी पर अमर बलिदान होते हैं। माँ अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है। पिता परिवार का संचालन करता है। पुत्र पितरों को पिण्डदान करता है। शिष्य गुरु को दक्षिणा देते हैं। पत्नी पति की सेवा करती है। पति एकनिष्ठ ब्रह्मचर्य का पालन करके गृहस्थ धर्म की मर्यादा स्थापित किये रहता है। इसी मार्ग से बहुरुपिनी द्वैत उपाधियाँ अपने अद्वैत स्वरूप को प्राप्त करती हैं और द्वैताद्वैत पद्धति से अवर्तन प्रत्यावर्तन का क्रम निरन्तर निर्वाध गति से चलता रहता है। कण से कण संयुक्त हैं, उनमें पार्थक्य नहीं है। अणु से अणु में दूरी नहीं है। कण, अणु, परमाणु सकाम नियोजित है। इस प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि एक विराट व्यवस्था में निबद्ध संचालित है। काम में भोग अथवा लिप्सा जैसा कोई वैशिष्ट्य नहीं है। यदि किसी प्रकार की लिप्सा जैसी कि विकार ग्रस्त मानव पिण्डों में बहुधा देखी जाती है प्रकृति की आन्तरिक व्यवस्था में भी हो तो निस्सन्देह सम्पूर्ण प्रकृति ही अराजक, उत्तेजक एवं विस्फोटक हो उठेगी।



काम का सम्बन्ध जितना कर्मेन्द्रियों से है, उतना ही ज्ञानेन्द्रियों से भी है। प्रत्येक इन्द्रिय सकाम चेष्टारत हैं। जीवन के समस्त कार्य इन्द्रियों में प्रकृतया विभक्त हैं। जब भी कोई इन्द्रिय विशेष किसी कार्य का नेतृत्व ग्रहण करता है तो शेष इन्द्रियाँ अपने अपने ढंग से उस कार्य की सफलता में योगदान करती हैं। यह सब कुछ इन्द्रियों के सम्राट आत्मन की सन्तुष्टि के लिये होता है। यह लम्बा कारवाँ आत्मा के नेतृत्व में दिन रात चला करता है। यदि मानव भी साधारण कोटि का जीवमात्र होता तो चेतन तत्व के द्वारा आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानने की माथा-पच्ची अनावश्यक थी। साधारण जीव को इस उलझन में डालने से कोई लाभ नहीं होता। साधारण जीव प्रकृतया प्रवृत्तियों के अनुसार जीने को या मरने को बाध्य हैं। किन्तु मानव असाधारण जीव है। अतएव यह उत्तरदायित्व उसी का है कि चेतना के अधिनायकत्व में जीवन का युद्ध जीतकर आत्मा का विजय केतु फहराये। इस युद्ध में प्रत्येक सैनिक अपना अपना फर्ज अदा करता है। षडयंत्र, विद्रोह, विश्वासघात का भी अपना विशेष स्थान है। इस प्रकार के कार्य उपाधि भेद एवं संस्कार भेद के कारण होते हैं। इसीलिये जीवन के युद्ध में कभी हार होती है, कभी जीत। अंग्रेजी-फौज की प्रबलता के समक्ष झाँसी की रानी की हार निश्चित थी, किन्तु उनकी यह हार कुछ अधम गद्दारों के कारण कुछ अधिक शीघ्रता से हो गयी। इसके विपरीत आत्मा की लड़ाई में महारानी की पूर्ण विजय रही। ये सारी बातें सकाम हैं। योनि-लिप्सा मात्र ही काम नहीं है। इस लिप्सा विशेष का भी नियमन होता है। और यह भी अपनी आभ्यान्तरिक शक्ति के योगदान से अविस्मरणीय प्रसंगों की पावन परम्परा स्थापित करती है। भारतीय चलचित्रों में प्रदर्शित काम वासना की तसवीरें जीवन की वास्तविकता नहीं हैं। काम को, जीवन की इस अनिवार्य व्यवस्था को इस तंग नजर से देखना नीचता से भरी हुई शरारत है जिसको किसी भी भाँति क्षमा करना घोर अपराध है। इस विचार को कहीं भी प्रश्रय नहीं मिलना चाहिए। साहित्य में तो यह और भी वर्जित है। इसके अन्तः से जीवन-पक्ष को उभारने की जरूरत है। इसी में गल-पच कर मरने की नहीं।

अधोमुखी कामुक प्रवृत्तियों का उपद्रव और आतंक जब भी सीमा का अतिक्रमण करने लग जाता है तब विवेक के अंकुश से उसको अनुशासन में लाया जाता है। 'तब शिव तीसर नयन उधारा, चितवत काम भयेउ जरि छारा।' चन्दन में गन्ध की भाँति काम सृष्टि में व्याप्त हैं काम अनेकानेक उपाधियों से संयुक्त जीवन का अविच्छिन्न अंग है। पेड़ की छाल की तरह इसके जीवन से छीलकर अलग देखने की मूर्खता का भण्डाफोड़ नारद-मोह में बड़े ढंग से दरसाया गया है। काम पर विजय करने के नारद के दम्भ का दमन काम की वास्तविकता, उपयुक्तता तथा इसके औचित्य को प्रमाणित करता है। निष्काम कर्म योग तथा अनासक्ति योग से भी काम की महत्ता ही सिद्ध होती है यह काम उर्ध्वमुखी गति का द्योतक है और प्रवृत्तियों को निवृत्तियों के मार्ग पर ले आने की पद्धति विशेष है जिसके बिना मानव में और साधारण जीव में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। 'हंगर ऐण्ड सेक्स कण्ट्रोल वर्ल्ड' की व्यवस्था देने वाले मानव को पशु से भिन्न नहीं मानते। यह तो अत्यन्त मोटी और भोँठी बात है। आहार निद्रा भय मैथुनम् च समान एतत् पशुर्मिनराणाम्। हंगर और सेक्स की उष्मा तो मानव में बड़ी विधि से शान्त हो जाती है। मनुष्य होकर इस उष्मा में जलने से तो अच्छा है पशु होकर इस लहर की मौज लेना। फिर शिव के तीसरे नयन की तथा नारद-मोह नाटक की, निष्काम कर्मयोग की अथवा अनासक्ति योग की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। काम एक स्वयंसिद्ध सत्य है, दर्शन है, विचारधारा है। प्रकृति ने स्वयं इसको अनुशासित एवं सन्तुलित रूप दिया है। चेतन तत्व के प्रभाव से इस प्रबल शक्ति के द्वारा मानव को उच्चतम स्थिति में पहुँचना अभीष्ट है। काम अपनी समस्त उपाधियों सहित ज्यर्तिलिंग की स्थिति में समाविष्ट हो जाता है। तभी उसको



शिवत्व की पूर्ण अनुभूति होती है। यदि भौतिक विषय—भोग की कामना ही मानव को अभीष्ट हो तो इससे अच्छा तो यही है कि चेतना एवं आत्मा का चोंगा वह अपने ऊपर से उतार फेंके और नग्न पाशविक्ता का जीवन अपना ले क्योंकि परम उदार और न्यायी प्रकृति ने पशु जीवन में भी इसकी बड़ी ही मर्यादित एवं संयमित व्यवस्था कर रखी है। फिर इस तत्त्व को समझने बूझने, थियरी गढ़ने या मत—मतान्तर की उलझन पैदा करने की मानसिक परीशानियों से भी मुक्ति मिल जाती है।

प्रकृति में सब विशेष सामान्य की स्थिति में रहते हैं। विशेषों की रचना ही इस प्रकार है। सामान्य से पृथक् विशेष की अपनी निज की कोई सत्ता नहीं होती। इसी प्रकार सामान्यों का भी अलग से कोई बड़ा तालाब या कारखाना नहीं होता। सभी सामान्य विशेष बन कर ही रहते हैं। विशेषों में सामान्य प्रच्छन्न रहता है। विशेष इस स्थिति से अनभिज्ञ नहीं रहते। प्रकृति के इस नियम में काम का भी सम्यक नियोजन है। काम की सामान्य अवस्था विशेष अवस्था से भिन्न नहीं होती। इस प्रकार उसकी विशेष अवस्था भी सामान्य से हटकर नहीं होती। जब भी इस नियम में अवरोध उपस्थित होता है। अथवा अवरोध उत्पन्न किया जाता है या नियम टूटने लगता है तो त्राहि—त्राहि मच जाती है। रीति कालीन कवियों को यदि इस तथ्य की अनुभूति होती तो वे किसी रईसजादे की खुशामद में कविता कभी नहीं लिखते और न तो प्रकृति की शक्ति नारी को रमणी समझ कर उसको मात्र लिप्सा की और भोग की सामग्री मानते। पण्डित सुमित्रानन्दन पन्त को यह लिखने का आधार कदापि नहीं मिला होता—‘योनि मात्र रह गयी मानवी’। आश्चर्य है, प्रकृति की इस महती महिमामयी आदि शक्ति के अपमान का प्रतिकार अब तक नहीं हुआ।

शृंगार रस का मनमाना अर्थ लगा कर प्रकृति के शोभायमान स्वरूप को साहित्य में और जीवन में कितना लांछित किया गया है। परमहंस रामकृष्ण ने अपनी धर्मपत्नी का शृंगार माता के रूप में किया था। क्या यह शृंगार रस नहीं है मन्दिर में देव प्रतिभावों का जो शृंगार किया जाता है उसमें और साहित्य के मन्दिर में होने वाले शृंगार में यह निन्दनीय, कुत्सित और गर्हित अन्तर कहाँ से आ जाता है। शृंगार रस से मानव के भीतर गोपनीय ढंग से व्याप्त जीवधारी की योनि लिप्सा को उत्तेजित करना यदि अर्थ लगाया जाय तो कविता का अथवा आलोचना का इससे अधिक दुष्टतापूर्ण कुकार्य कल्पनातीत है। शृंगार जीवन का शुभ्र व्यक्त पक्ष है। इस शृंगार को देखने की आँख चाहिये। इस शृंगार की रसधार बहाने की सामर्थ्य चाहिये। इस शृंगार से तादात्म्य की साधना होनी चाहिये। काम इसी सकल्प को पूर्ण करने की विधा का नाम है। उसका शृंगार से कोई षडयन्त्रकारी सम्बन्ध नहीं होता। काम इस शृंगार के गौरव का कीर्तिमान स्थापित करता है, इस पर सोने का पानी चढ़ाता है।

मोक्ष

कारण कार्य प्रवाह को रोकना निर्वाण है। कार्य से कारण की ओर अग्रसर होने की पूर्णता, मोक्ष है। कार्य, कारण होकर पुनः कार्योत्पत्ति करेगा ही। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति से सृष्टि क्रिया प्रभावित नहीं होती किन्तु निर्वाण प्राप्ति का लक्ष्य ही सृष्टि प्रवाह को रोक देना है। मोक्ष प्राप्ति के उपरान्त इच्छानुसार तद्भव सम्भव है किन्तु निर्वाण प्राप्ति के उपरान्त इच्छा की कोई उपाधि ही शेष नहीं रह जाती। अतएव तद्भव का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। जिस सिद्धान्त से सृष्टि की रक्षा न होती हो वह सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता है ? पुनः निर्वाण का दर्शन गृहस्थों के लिये कम श्रमणों के लिये ही अधिक वरेण्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ लोग भव—जाल में चक्कर काटते रहने के लिये बने हैं और कुछ लोग इस जाल से मुक्त होकर



निर्वाण की अवस्था में स्थायी सुख भोग करने के लिये हैं। मोक्ष के दर्शन में इस प्रकार की कोई वैध प्रणाली नहीं है। सभी मोक्ष के अधिकारी हैं। धर्म, अर्थ, काम का सम्यक भाँति नियोजन करके सभी व्यक्ति मोक्ष की अवस्था प्राप्त कर सकते हैं।

इसीलिये जीवन चार पुरुषार्थ, चार आश्रम, पंच महाव्रत और तीन ऋणों में विश्लेषित किया गया है। पूर्ण जीवन की तैयारी आरम्भ के पचीस वर्षों में होती है, तदुपरान्त पचीस वर्ष लोक-जीवन का सन्चालन करने के निमित्त, उसके बाद का पचीस वर्ष लोक-जीवन से विरक्त होने का और शेष पचीस वर्ष पूर्ण विरक्ति और सन्यास के निमित्त सुनिश्चित कर दिया गया है। जीवन के चारों आश्रमों को व्यवहार पक्ष में उतारने के लिये पंच महाव्रत का विधान किया गया है जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का पालन नितान्त आवश्यक माना गया है। पंच महाव्रत के पालन से धर्म, अर्थ और काम क्रम से मानव को मोक्ष की अवस्था तक सहज ही पहुँचा देते हैं। सामाजिक उत्तरदायित्वों से परांगमुख होने से बचाने के लिये गुरुऋण, मातृऋण और पितृऋण का पालन अनिवार्य माना गया है। इस प्रकार मानव जीवन की यह सम्पूर्ण व्यवस्था दार्शनिकता की भूमिपर खड़ी होकर समाज को देदीव्यमान और गौरवान्वित करती है। प्रकृति और फरुष के रूप में नर-नारी का अभिनन्दन करते हुवे प्रत्येक व्यक्ति को चार वर्णों में विभाजित कर प्रत्येक व्यक्ति में ही चार जातियों का समावेश किया गया है। इसी व्यक्ति से समाज की रचना कल्पना की गयी है। व्यक्ति का यह वर्गीकृत रूप समाज में भी सही रूप से घटित किया गया। जिस प्रकार चार अंगों में विभक्त व्यक्ति की एक ही सत्ता है उसी प्रकार चार वर्णों में विभक्त समाज का भी एक ही अविच्छिन्न रूप है। व्यक्ति की चार शक्तियाँ व्यक्ति को चलाती हैं। समाज के चार वर्ण समाज को चलाते हैं। व्यक्ति में निहित चार शक्तियाँ किसी से हीन नहीं हैं और व्यक्ति के लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकार समाज के चारो वर्ण किसी से हीन नहीं हैं और सब मिलकर पूरे समाज का सन्चालन करते हैं। वर्ण, आश्रम, पंच महाव्रत आदि का लक्ष्य धर्म, अर्थ और काम के द्वारा मोक्ष प्राप्ति है जिसको कुछ अधिक स्पष्ट और सजीव बनाने के लिये यज्ञों का भी विधान किया गया। यज्ञों के द्वारा अपने अभीष्ट की प्राप्ति का मार्ग और भी दिव्य, सरल तथा सुगम बन गया। जीव को ब्रह्म के पास पहुँचने की सीढ़ियाँ तैयार हैं। इतर प्रभाव वैदिक जीव को प्रभावित नहीं करते पाते। वैदिक जीवों को पुनः संस्कारों से भी मण्डित कर दिया गया है कि गर्भाधन से लेकर श्राद्ध कर्म तक, यहाँ तक कि पिण्डदान के विधान में भी वे कहीं भटक न जाये। जीवन, समाज एवं मानव मात्र के कल्याण के लिये विहित इस उच्चकोटि के दार्शनिक, वैज्ञानिक और लौकिक वैदिक-विधान में भारतवर्ष में जन्म लेने के कारण प्रत्येक भारतीय को प्रकृतया विश्वास है। इतर प्रभाव में रहते हुए भी उसके अवचेतन मस्तिष्क में प्रत्येक घड़ी इसका ध्यान रहता है। हजारों वर्षों की हमारी यह जीवन-निधि तप और त्याग की कमाई है। इससे हमारी पूर्ण सुरक्षा है। आधुनिक युग में विवेकानन्द और महात्मा गान्धी ने इसको सिद्ध करके सम्पूर्ण विश्व का बोध कर दिया है।

वैदिक मंत्रों में दिव्य तेजस् की अवतारणा की महती शक्ति निहित है। मंत्रों के शुद्ध उच्चारणों से दित्य तेजस् के अलौकिक रूप की रचना होती है, जो यज्ञ मण्डप में प्रत्यक्ष होकर याज्ञिक को आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करता है मंत्रों का प्रत्येक अक्षर दिव्य तेजस् का अंग प्रत्यंग होता है। उस तेजस् के साथ तादात्म्य तभी सम्भव है जब मंत्रों का शुद्ध उच्चारण हो और उनका भावपूर्ण पाठ हो। मंत्रों में किंचित मात्र परिवर्तन से उद्देश्य से विरत होना पड़ेगा। प्रार्थना इसी पद्धति विशेष का सूक्ष्म रूप है। ध्यान और प्रार्थना मनन और चिन्तन का भाव-शुद्धि से गहरा सम्बन्ध है। मोटी बात है कि चंचल चित्त से साधरण सी बात भी समझ में नहीं आती। कोई भी कार्य हो, चित्त को प्रत्येक ओर से समेटना अत्यावश्यक है अन्यथा पथ पर पग रखना



भी कठिन हो जाता हैं दिव्य तेजस् की अनुभूति और उसके साक्षात्कार का ऐसी अवस्था में प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता ।

संसार यज्ञशाला है । जीवन एक यज्ञ है । मनुष्य याज्ञिक है । यज्ञ के विभिन्न उपकरणों में समिध का अपना विशिष्ट स्थान है । समिध में अग्नि धारण करने की शक्ति होती है । समिधा से उत्पन्न अग्नि वैदिक मंत्रों द्वारा प्रेरित हवन समग्री को आत्मसात करती है और उसको परिवर्तित रूप में प्रत्येक दिशा में प्रचारित एवं प्रसारित कर देती हैं । सम्पूर्ण वायुमण्डल पवित्र यज्ञ-धूम से परिव्याप्त हो उठता हैं और आहूत दिव्य शक्तियाँ अनुभूति में प्रत्यक्ष हो जाती है । आवाहन, स्थापन अर्चन, पूजन, बन्दन के पश्चात् हवन वह अन्तिम विधा है, जिसके पश्चात् ही जीवन को आत्मिक शान्ति एवं दिव्य ज्योति के रूप में पुण्य फल प्राप्त होता है । वेदों का अन्त वेदान्त में और यज्ञान्त समिधा में सम्पन्न होता है ।

चेतन मन के सहयोग से अचेतन मन का निर्विकल्प मन की ओर प्रस्थान या यूँ कहा जा सकता है कि मानव कारण के सहयोग से जीव कारण का ब्रह्म कारण से तादात्म्य ही वास्तविक प्रगति है जिसका सोपाधिक ज्ञान संगत लक्षण वैशिष्ट्य के कारण कभी छायावाद की तो कभी रहस्यवाद की संज्ञा धारण कर लेता है किन्तु वस्तुतः अन्ततोगत्वा यही नग्न यथार्थवाद है । जिन साधनों से चेतन मन, अचेतन मन को निर्विकल्प मन की स्थिति में पहुँचा सकता है । इसके लिये अलग से कानून बनाने की जरूरत नहीं है । वैदिक संहिता द्वारा प्रस्तुत संविधान ही यथेष्ट है ।





नूतन का राजतिलक

गणतन्त्र का आधार सुविकसित एवं सुसंस्कृत व्यक्तित्व है। राज्यतन्त्र का आधार व्यक्ति विशेष में केन्द्रित व्यक्ति व्यक्ति का स्वत्व है। गणतन्त्र में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का पूर्ण विकास होता है। राज्यतन्त्र में व्यक्ति स्वातन्त्र्य का क्रमिक ह्रास होता है। प्राचीन भारत में गणतन्त्र एवं राज्यतन्त्र दोनों शक्तियाँ समानान्तर अवस्थित थीं किन्तु राज्यतन्त्र का विकास साम्राज्य में और गणतन्त्र का विकास गण-संघों में होते रहने के कारण स्वभावतः परस्पर संघर्ष अनिवार्य हो गया। फलतः गणतन्त्र का अस्तित्व मिट गया और राज्यतन्त्र सार्वभौम सत्ता के रूप में समस्थित हो गया तथा व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना भयंकर संक्रास में पड़ गयी। व्यक्ति विशेष की शक्ति पर सार्वभौम सत्ता कब तक टिकती। व्यक्ति के गिरते ही उसका साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो जाता। अशोक, समुद्रगुप्त और हर्षवर्द्धन मात्र व्यक्ति विशेष हैं, समाज नहीं है। इनकी जाति नहीं होती। ये समय समय पर व्यक्ति-व्यक्ति की शक्ति का आसव छान कर स्वयं समद्भूत हो जाते हैं। इनका होना किसी स्थायी व्यवस्था के अंतर्गत नहीं है। स्थायी व्यवस्था को न रहने देने की ये अस्थायी अवस्थायें हैं। इनके कारनामों चमत्कार कहे जा सकते हैं किन्तु इनके कारनामों से समाज को या मानवता को कोई दिशा नहीं मिलती। नेहरू जी के हीरो शीह हांग टी अथवा चंगेज खां विश्व इतिहास की झलक ऐसे ही वीर हैं जैसे तैमूरलंग, नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली अथवा डूप्ले या क्लाइव। कुछ अच्छा करना इनकी प्रकृति नहीं है। छिनी हुई व्यक्तिगत आजादियों के ये पुंजीभूत रूप अपनी करते हैं समाज की कुछ भी नहीं करते। अकबर की राजपूत नीति, शेरशाह की शासन व्यवस्था, समुद्रगुप्त की दिग्विजय, अशोक की धर्मविजय अपने ही अस्तित्व की रक्षा करने का महाप्रयास था जिससे अप्रत्यक्ष रूप से समाज भी लाभान्वित हुआ। किन्तु व्यक्ति और समाज के वास्तविक स्वरूप के स्वाभाविक विकास का अवसर कभी नहीं उत्पन्न किया गया। दोनों एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते ऐतिहासिक खिंचाव और तनाव के वेग में यहाँ तक पहुँचे हैं। यह समस्या आज भी ज्यों की ज्यों है। लगता है इसको हल करने का प्रयास कभी हुआ ही नहीं।

साम्राज्यवादी सुरसा ने गणतन्त्र के हनुमान को लीलने की कोशिश की मगर मसकाकार में व्यक्तित्व का विकास बना रहा जिसके कारण साम्राज्यवादी सुरसा का घटाटोप छिन्न भिन्न होता रहा। साम्राज्यवादी शक्तियों के विघटन का क्रम निरन्तर चलता रहा। व्यक्ति से व्यक्ति लड़ते रहे। मुहम्मद तुगलक और आलमगीर औरंगजेब के शासन काल में व्यक्ति से व्यक्ति का यह जंग देखते बनता है। अंग्रेजों के विशाल साम्राज्य को कुछ व्यक्तियों ने तहस नहस कर डाला। साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध सामन्तवादी शक्तियाँ, पूँजीपतियों के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग जूझने को इसीलिये विवश है कि व्यक्ति और समाज के स्वाभाविक सम्बन्धों का विधान आज तक नहीं किया गया। जब तक व्यक्तिगत स्वतंत्रता नहीं व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की स्वच्छन्दता नहीं प्राप्त होगी तब तक समाज में उथल पुथल का क्रम बना रहेगा और मानवीय सभ्यता के अन्तरतम में व्याप्त अशांति दूर न हो सकेगी।

इस प्रसंग में राज्यतन्त्र की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त का अर्थ जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है। समन्नत एवं सुविकसित व्यक्तित्वों को एक ऐसे दिव्य व्यक्तित्व से संयुक्त होने की विवशता वैदिक रूपक में प्रस्तुत की गयी है जो वास्तव में उन व्यक्तित्वों की सेवकाई करता न कि उन पर शासन। किन्तु माया के सम्पर्क में जब परम विशुद्ध तत्व आत्मन् ही विस्मृति के गर्त में पतित हो जाता है तब संसार में अवतरित होकर वे दिव्य व्यक्तित्व अपना लक्ष्य क्यों न भूल



जाते। युद्धों की उत्पत्ति का यही माया मूल कारण है। कालान्तर राजा अपना पावन उद्देश्य परिपालन को भूल गया और ऐश्वर्य भोग में उन्मादी हो गया। ऐसे राजाओं का डटकर विरोध भी हुआ। भयंकर युद्ध हुये। राज्यतन्त्र की यही विडम्बित स्थिति है। वास्तव में गणतन्त्र से ही राजतंत्र की उत्पत्ति है। सुविकसित व्यक्तियों ने अध्यक्ष के रूप में राजा का वरण किया जिसने अवसर पाते ही उन्हीं व्यक्तियों पर शासन करना शुरू कर दिया। राज्यतन्त्र एवं गणतन्त्र का यह युद्ध वास्तव में व्यक्ति से समाज का युद्ध है किन्तु चूँकि समाज का युद्ध स्वाभाविक रूप में, सहजभाव से संचालित होता है अतएव उसका स्वरूप बहुत कुछ व्यक्तिगत होता है जो खण्ड विरोध, क्षेत्र विरोध, व्यक्तिगत विरोध के रूप में अनियंत्रित एवं अनुशासित ढंग से चलता रहता है जिसे हम अराजकता अथवा उपद्रव कहते हैं। इस प्रकार व्यक्ति से समाज का यह युद्ध व्यवहार में व्यक्ति से व्यक्ति के युद्ध का रूप ग्रहण कर लेता है। ऐसे में प्रत्येक व्यक्ति उपद्रवी प्रतीत होता है। व्यक्ति व्यक्ति के अन्तर में व्याप्त संघर्ष बाहर निकल कर संसार का रूप विकृत कर देता है। जो चाहिए वह प्राप्त न होने पर यही होता है। माया में लीन होकर स्वयं को भूल जाने का यही परिणाम है। शासक हो या शासित सब की यही गति है।

जिन छोटे छोटे राज्यतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों को साम्राज्यवादी सत्ता डकार कर अपना पेट फूला लेती है, वे अन्ततोगत्वा अजीर्ण पैदा करके पहले की अपेक्षा कुछ अधिक विकृत होकर उसके पेट से अनपचे अन्न की भाँति बाहर निकल आते हैं और सड़ते गलते रहते हैं। उधर साम्राज्यवादी सत्ता भी बीमार पड़ जाती है। आखिर वह मर जाती है। उसके सारे माल असबाब पर उसी प्रकार की दूसरी सत्ता का कब्जा हो जाता है। व्यक्तित्व विकास की करुण कहानी अधूरी रह जाती है किन्तु समाप्त नहीं हो पाती। यह एक दूसरा मोड़ पा जाती है। सोचने विचारने वालों का एक नया वर्ग पैदा हो जाता है। मिडिल क्लास या मध्यम श्रेणी के समाज की उत्पत्ति का यही रहस्य है। महाकाव्यों के युग के बाद बुद्ध धर्म एवं जैन धर्म का उदय, हर्षवर्द्धन के बाद शंकराचार्य का उदय, तुगलक वंश के पतन के बाद भक्तिकाल का अवतरण, औरंगजेब के समय रामदास की अगुआई, 1957 के विप्लव के बाद सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग तथा 1919 के पश्चात् अभिनव बौद्धिक-चेतना का आविर्भाव प्रमाणित करता है कि स्वार्थों के गन्दे खेल से तंग आकर मानवता की रक्षा के नूतन अभियान स्वतः छिड़ जाया करते रहे ताकि व्यक्तिवादियों के हथकण्डों से व्यक्तित्ववादियों की रक्षा हो सके। कितने आश्चर्य की बात है कि तरह तरह के पचड़ों में पड़ा व्यक्ति सर्वदा व्यक्तित्व की हत्या करता आया है। वह यह नहीं जानता कि व्यक्तित्व के बिना न तो व्यक्ति का कोई अस्तित्व है, न समाज का।

जिस किसी वस्तु का भौतिक अस्तित्व हो वह व्यक्ति कहलाता है। जो व्यक्त हो वही व्यक्ति है। किन्तु व्यक्तित्व इससे बिल्कुल भिन्न वस्तु है। जो गुण व्यक्ति के अस्तित्व को स्थायित्व प्रदान करते हैं वे ही व्यक्ति के व्यक्तित्व को गढ़ते हैं। बिना व्यक्तित्व के व्यक्ति की कल्पना बड़ी ही भयावह है। व्यक्तित्व के निर्माण की तीन क्रमिक श्रेणियाँ हैं—

1— कर्म 2— ज्ञान 3— भक्ति । जब तक व्यक्ति में इन तीनों गुणों का समावेश नहीं हो पाता, तब तक उसका व्यक्तित्व नहीं बन पाता। अध्ययन, मनन एवं चिन्तन से कर्म, ज्ञान तथा भक्ति को साधा जा सकता है। जब तक मन की स्थिति इस प्रकार की नहीं बन पाती तब तक वह अन्धकार में भटकते रहने को विवश है। उसके इस प्रकार निरुद्देश्य भटकते रहने की दशा में जो भी अनर्थ हों, वे थोड़े हैं। मन की इस दुर्भाग्यपूर्ण अनस्थिरता के कारण व्यक्ति का कोई स्थाई व्यक्तित्व बन नहीं पाता। भौतिक-भोग के चक्कर में पड़े महान दीख पड़ने वाले जीवों को इस दशा का ध्यान नहीं रहता। इस प्रकार मानवीय समाज सहजतः तीन टुकड़ों में बँट जाता है—



1. उच्चवर्ग भौतिक सुखभोग में पड़े मानव
2. मध्यवर्ग व्यक्तित्व निर्माण की धुन में लगा मानवीय समाज
3. निम्न वर्ग ;उपरोक्त दोनों वर्ग के मानवों से भिन्न अपनी रूई सूत में लगा तटस्थ मानवीय समाज

वैदिक विचारधारा के अनुसार जीवन एक यज्ञ है, जगत यज्ञशाला है और मनुष्य समाज याज्ञिक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति वह पद्धति है जिससे याज्ञिक को जीवन धरण करने का पुण्य फल प्राप्त होता है। कर्म के लिए अध्ययन, ज्ञान के लिये मनन तथा भक्ति के लिये चिन्तन का मार्ग विहित है। और व्यवहारिक शब्दावली में इसी को निरीक्षण, कल्पना तथा सामान्यीकरण की संज्ञा दी जा सकती है। आराधना, पूजन एवं समर्पण का भाव इससे भिन्न नहीं है। कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के ताले को खोलने की ये कुंजियाँ हैं। समर्पण साधरणीकरण की वह उच्चतम अवस्था है जो व्यक्तित्व को उसके विकास की चरम अवस्था पर पहुँचा देती है। यह अवस्था किसी भक्त की ही होती है। इसीलिये भक्ति की भावना की अपने शास्त्रों में बड़ी महिमा बतलायी गयी है। जीवन के इस क्षेत्र से उठ कर सन्तों एवं महात्माओं ने अपने समर्पित जीवन का अनोखा रिकार्ड कायम किया है, समाज की जड़वस्था में नयी चेतना का संचार किया है। यह वही द्वितीय श्रेणी का मानवीय समाज है जिसने सर्वदा सम्पूर्ण मानवीय समाज का नेतृत्व किया है तथा मानव पिण्डों में विद्युत शक्ति भरी है जिससे मानवता की रक्षा होती आयी है। अन्धकार पीड़ित मानवों को ज्योति का दर्शन हुआ है। उच्चवर्ग की घोर भोगवादिता, निम्नवर्ग की अधम जड़वादिता से नष्ट होते हुये मानव-मूल्यों की रक्षा यही मध्यम वर्ग हमेशा से करता आया है। मध्यममार्गी मानवीय समाज की रचना उसी समय से होने लगी थी जब राजतन्त्रों ने गणतन्त्रों का विनाश कार्य आरम्भ किया था। राज्यतन्त्र का दैवी बल क्षीण होकर भौतिक भोग में आत्मनाश कर चुका था और पाशविक शक्ति का आतंक पूर्ण विराट साम्राज्य स्थापित करने में रुधिर की धरा प्रवाहित करने में संलग्न था जिसकी प्रतिक्रिया ने एक बार पुनः धर्म के पहिये को भी प्रवर्तित कर डाला था जो एक व्यक्ति का मात्र कौतुक था, सामाजिक विकास के अविच्छिन्न अंग के रूप में नहीं था।

व्यक्तित्व के निर्माण के सम्बन्ध में पुष्पवाटिका का एक दृष्टान्त प्रसंग को स्पष्ट करने के लिये यथेष्ट है। क्यारी में प्रत्येक फूल को खिलने का समान अवसर है। माली सबकी निगरानी समान रूप से करता है। प्रत्येक फूल अपनी क्षमता का विकास करता है। कोई इतर वनस्पति जो वाटिका की शोभा में बाध उत्पन्न करती है, वाटिका में रहने नहीं पाती। अनेक प्रकार के फूलों की अनेक क्यारियों से सज्जित वाटिका में मन कहीं भी रम जाता है। सदसंगति की इस अवस्था में मन को कोई बहुत पुरानी भूली बात याद होने लगती है। वाटिका से उसका लगाव बढ़ जाता है। वह वाटिका में नित्य घूमने लगता है और इस प्रकार उसके मन के ऊपर से आवरण पर आवरण हटते जाते हैं। वह स्वस्थ, कान्तिमान और दिव्य प्रतीत होने लगता है। प्रत्येक फूल एक व्यक्ति है, उसका खिलना व्यक्तित्व का विकास है। क्या हमारी मानवीय वाटिका का स्वरूप इसी प्रकार का नहीं हो सकता है ? क्या सुसंस्कृत मानवीय वाटिका में भ्रमण करते हुये नैसर्गिक आनन्द प्राप्त नहीं किया जा सकता है? कल्पना कीजिये कि किसी हत्यारे, वधिका चोर या लम्पट को पुष्पवाटिका में कौन सा आनन्द प्राप्त होगा ? किसी की घड़ी चुराकर वायु सेवन का आनन्द प्राप्त करने के निमित्त कोई विरला ही चोर पुष्पवाटिका में प्रवेश करेगा। किन्तु हमारी मानवीय समाज रूपी पुष्पवाटिका में ऐसे ही आनन्दी जीवों की बहुलता है। साधुवेश को कलंकित करने वाले भयंकर शरीरधारी क्यारी-क्यारी पर छाये हुये रहते हैं। मानवीय समाज का यह गठन देख कर विचार कुंठित हो जाते हैं। इस बाग का माली कहाँ है ? निर्वाचन



घोषणा—पत्रकों की शब्दावली में वह निष्ठापूर्ण योजना कहाँ है जो व्यक्ति और व्यक्तित्व का सम्बन्ध निरूपित करके मानवीय समाज को उस माली की पुष्पवाटिका के समान बना दे। भौतिक सुखभोग की सुरक्षा के चालबाजी से भरे 'इलेक्शन मेंनिफेस्टो' से उत्तर की अपेक्षा हैं।

शिक्षा और संस्कार से व्यक्तित्व बनता है। मानव जीवन गर्भाधन संस्कार से लेकर अन्तिम संस्कार तक सम्यक्निबहै। संस्कार से संस्कार तक चल कर मानव अपनी जीवन—यात्रा पूर्ण करता है। इस संस्कारित मानव पर शिक्षा सोने का पानी चढ़ाती है, उसके व्यक्तित्व को बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेतना से परिपूर्ण कर देती है। कोई भौतिक प्रलोभन गुरुकुल के स्नातकों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाता था। आचार्यों पर राजनेताओं के आदेश नहीं चला करते थे। शिक्षा प्राप्त करना अपने आप में एक पावन उद्देश्य था। शिक्षा के द्वारा आदर्श व्यक्तित्व तैयार किया जाता था। शिक्षा और संस्कार दोनों मानव जीवन को एक पूर्ण सत्य से संयुक्त करते थे। यही कारण है कि हजारों वर्षों की शिक्षा व्यवस्था में आज के तरह की क्रान्ति की अथवा असन्तोष की भावना कभी उत्पन्न नहीं हुई थी। शिक्षा का उद्देश्य था योग्यता उत्पन्न करना। योग्य होने में किसी को आपत्ति कैसे हो सकती थी। किन्तु आधुनिक शिक्षा प्रणाली का एक मात्र उद्देश्य है उँची नौकरी हासिल करना। विद्यालय नौकर पैदा करने के कारखाने हैं और प्रतिवर्ष इन कारखानों से बहुत ज्यादा तैयार माल बाहर आता है जिसकी खपत नहीं हो पाती। ये मात्र यदि चेतन न होते तो सड़—गल कर विकृत हो जाते और कारखाने भी बन्द कर दिये जाते। किन्तु नौकरी की तलाश में विद्यालयों से बाहर घूमनेवाले नवयुवकों का एक बहुत बड़ा वर्ग सड़ने—गलने को मजबूर है। इस सड़ान की विषैली गैसों से हमारा समाज भर गया है। व्यक्तिक और समाज की मनमोहक थियरीज पुस्तकों में अलग सड़ रही हैं। इन थियरीज से बाहर की दुनिया का कोई मेल नहीं है। व्यक्ति और समाज के बीच तालमेल बिठाने के नये—नये सन्दर्भों की बेचैनी के साथ तलाश जारी है। जब तक शिक्षा के क्षेत्र में मौलिक परिवर्तन नहीं होता अथवा इस क्षेत्र को भी जब तक स्वतन्त्रता नहीं मिलती तब तक राजनीतिक स्वतन्त्रता का उद्देश्य पूर्ण नहीं होगा। फूहड़ गुलामी के साथ टिकुली और झुलनी से सुशोभित यह ठगिनी आजादी जहाँ कहीं भी जायेगी अपमानित होगी। व्यक्तिक और समाज का सन्तुलन कभी ठीक नहीं होगा।

स्वतन्त्र होकर भी स्वतन्त्रता के सुख की कभी अनुभूति नहीं होगी।

गुलाम बनाने के कारखानों से तैयार बहुत बढ़िया माल जब तक शिक्षक आचार्य, विभागाध्यक्ष, डीन और कुलपति का फर्जी काम करते रहेंगे, उपदेश और शिक्षाओं के नाटक खेले जाते रहेंगे तब तक व्यक्ति असन्तोष की लपट से समाज को बचाया नहीं जा सकता। सोचने की बात है कि गुलाम किस प्रकार का समाज बनायेगे। यही कारण है कि अंग्रेजी और अँग्रेजियत की फैक्टरी के कुछ भारतीय नवयुवकों में अंग्रेजी के प्रति विद्रोह की भावना पैदा हो गयी। विवेकानन्द, लोकमान्य तिलक, लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय, गान्धी जी, जवाहर लाल नेहरु, सुभाषचन्द्र बसु आदि महान व्यक्तिफयों को आत्मग्लानि हुई और सब ने अंग्रेजों की नौकरी को लात मार दिया। अंग्रेजी शिक्षा के बहिष्कार का आन्दोलन चलाया। सुभाषचन्द्र वसु ने आईसीएस की परीक्षा उत्तम श्रेणी में पास की थी किन्तु उन्होंने इस पद को टुकरा दिया। अंग्रेजी शिक्षा के कारखानों से तैयार माल बन कर बाजार में बिकना उन्हें मंजूर नहीं था। इस गुलामी से छुटकारा पाने के लिये ये महान आत्मायें बेचैन हो उठीं और बड़ी से बड़ी कुरबानी के लिये उन्होंने देश को तैयार किया। व्यक्ति और समाज के एकाकार होते ही भारत की विराट शक्ति ताल ठोक कर खड़ी हो गयी। गुलाम बनाने के कारखानों के मालिक अपना कारखाना



छोड़ छाड़कर इस देश से भाग खड़े हुये। उनके जाने के बाद से वह कारखाना हमारे अधिकार में आ गया है। व्यवस्था जैसी की तैसी पुनः चालू है। हम गुलाम नहीं रहे, गुलामी रह गयी।

गुलाम बनाने वाली फैक्ट्रियों का काम अखिल भारतीय स्तर पर बड़ी तेजी के साथ शुरू हो गया। नेहरूजी ने इंजीनियरों और टेक्निकल मिस्त्रियों की बड़ी सख्त जरूरत बतायी। यह लार्ड मैकाले का दूसरा डेग था। वामन अवतार ने तीन ही डेग में बलि की पीठ नाप ली थी। पता नहीं तीसरा डेग कौन सा होगा और किसकी पीठ नापी जायेगी। इंजीनियरों तथा टेक्नीशियनों ने सम्भावनाओं के क्षेत्र को ढक लिया मगर फैक्ट्रियाँ चलती रहती रहीं। बेकार इंजीनियरों और टेक्नीशियनों का नया वर्ग तैयार हो गया। बीए और एम ए के बेकार वर्ग के साथ मिलकर वह नारे लगाने लगा। हालत यहाँ तक बिगड़ गयी कि मूल कारण को दूर करने के विचार से नसबन्दी के कारखानों को चालू किया गया। ये सम्पूर्ण तथ्य अस्तव्यस्त सामाजिक ढाँचे और व्यक्ति के अव्यवस्थित मस्तिष्क की उपज को संकेत करते हैं और शिक्षा के पवित्र उद्देश्य से च्युत होने की मूल व्यथा की अभिव्यक्ति करते हैं। शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति नहीं, व्यक्तित्व बनाना है। व्यक्तित्व का निर्माण राजकीय व्यवस्था को जब कठिन प्रतीत हुआ तो उसने व्यक्ति की उत्पत्ति पर ही पाबन्दी लगा दी। व्यक्ति कम होंगे तो उन पर शासन आसानी से किया जा सकेगा। व्यक्ति और समाज के जटिल प्रश्न को इस प्रकार बड़ी सरलता से हल करने की योजना कार्यान्वित की गयी। उधार शराब पर पाबन्दी का प्रस्ताव सामने शराब की बोतल रख कर पास किया गया। चोरबाजारी, मुनाफेखोरी, घूसखोरी, मँहगाई, कर-बोझ समाज की रीढ़ की हड्डी तोड़ने लगा। ऐसे में शिक्षितों की बेकारी ने स्थिति को और भी विकृत कर दिया। युवा पीढ़ी के मन में असन्तोष की भावना भर गयी।

युवा पीढ़ी को बहुत गुस्सा है। वर्तमान व्यवस्था से उसे गहरा असन्तोष है। वह अब यह अनुभव करने लग गयी है कि उसे जबर्दस्त धोखा दिया गया है। गहरी काली छाया की अन्धी दीवाल के सन्मुख उसको ला खड़ा कर दिया गया है। समाज की रचना का यदि थोड़ा सा भी ध्यान राज्यव्यवस्था को होता तो युवा पीढ़ी के भविष्य के साथ इस घातक खेलवाड़ का सिलसिला बन्द हो गया होता। व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध की स्थापना का यदि सत्य प्रयास किया गया होता तो युवा पीढ़ी को राज्यव्यवस्था में विश्वास होता। युवा-पीढ़ी के व्यक्तित्व के विकास से समाज में आशा की एक नयी किरण का उदय हुआ होता।

युवा पीढ़ी का यह गुस्सा मध्यवर्गीय समाज की उद्विग्नता का प्रतीक है। युवा पीढ़ी की प्रकृति मध्यवर्ग की होती है। समाज रचना की पूरी तैयारी इसी वर्ग में होती है। कहा जाता है और यह सच भी है कि युवा पीढ़ी के कन्धों पर समाज का गुरुतर भार है। इस कथन का यही तात्पर्य है कि युवक वर्ग समाज के संकट को आगे खींचने की ताकत अपने में पैदा करे। राज्य व्यवस्था का यह प्रथम कर्तव्य होता है कि वह युवक वर्ग को कष्ट, स्वस्थ कान्तिमान और सब भांति योग्य बना दे ताकि समय आने पर समाज के उत्तरदायित्व का वहन वह भलीभांति कर सके। ऐसा न होने पर युवक समाज का विद्रोही हो जाना स्वाभाविक है। गुस्सा यदि उनको न होगा तो किसको होगा ? हानि उनकी हो और गुस्सा अधिकारियों को,—यह बात समझ में नहीं आती। युवा-पीढ़ी का यह असन्तोष राजकीय अव्यवस्था का परिणाम है। जब तक समाज के प्रत्येक नवयुवक को उचित शिक्षा देकर उसके व्यक्तित्व के निर्माण की दिशा में समुचित कदम नहीं उठाया जाएगा, तब तक युवा पीढ़ी का गुस्सा खतम नहीं होगा। गुस्सा का जवाब गुस्सा नहीं होता। प्रतिक्रिया की भावना से प्रतिकार का कदम व्यवस्था के नाम पर कलंक है। व्यवस्था की इस गिरावट को रोकना युवक समाज का कर्तव्य है। युवक समाज स्वभावतः विद्रोही एवं क्रांतिकारी कदम उठाता है। उसका आन्दोलन उग्र और तीखा होता है। तोड़फोड़ और प्रदर्शनों



का रास्ता अपनाता उसका सहज स्वभाव है, ठीक वैसा ही जैसा बच्चों का जो घर के भीतर किसी बात के लिये उपद्रव खड़ा कर देते हैं। इसका उपाय दमन नहीं है, समस्या का समाधान है। उनको अनुशासन में नहीं स्वयं को अनुशासन में रखना आवश्यक है। उनको उपदेश सुनाने की नहीं, स्वयं उपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता है। वे आदर्शवादी हो जायेंगे, आप आदर्श प्रस्तुत करें। आपका आचरण यदि ठीक है तो उनका आचरण गलत नहीं होगा। बड़प्पन का मुखौटा लगाकर महानता का नाटक खेलने वालों को यह वर्ग भली-भांति समझ गया है। वास्तविकता के नाम पर यह नाटक अब और धोखा नहीं दे सकेगा।

मध्यवर्ग सम्पूर्ण समाज का विशेषीकृत रूप है। दार्शनिक, विचारक, कवि, कलाकार, संगीतज्ञ, मूर्तिकार, चित्रकार, शिक्षक, वकील, व्यवसायी, कृषक, लेखपाल, ग्रामसेवक, राज्य कर्मचारी, क्लर्क, आदि इसी वर्ग की उपज हैं। इनमें उच्चवर्ग में जाने की उत्कट अभिलाषा होती है। इस वर्ग के कुछ विशिष्ट व्यक्ति उच्चवर्ग की शोभा भी बढ़ाते हैं। उच्चवर्ग की दृष्टि इनमें से जिस पर पड़ती है अथवा इनमें से जिसका सम्पर्क उच्चवर्गीय समाज से हो जाता है वह इस समाज का होता हुआ भी इसका नहीं रह पाता है। उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह हवाबाज हो जाता है। वह वास्तविकता के धरातल से ऊपर उठ जाता है। उसके व्यक्तित्व पर अन्य प्रकार के रंग चढ़ने लगते हैं। व्यक्तिगत स्वार्थी की अधिकाधिक पूर्ति एवं भोग-सुख की लालसा उसके जीवन का लक्ष्य बन जाती है, उसकी सामाजिकता की भावना समाप्त हो जाती है। वैयक्तिकता अथवा व्यक्तिवादिता अनेक भांति के कुचक्रों में उलझ जाती है। जिस मध्यवर्गीय समाज से उसकी उत्पत्ति होती है, उसी की वह उपेक्षा करता है। राज्य व्यवस्था अथवा भद्रवर्गीय समाज मध्यवर्ग की जहाँ उपेक्षा करता है वहीं उसके किसी जगमगाते उदीयमान नक्षत्र को अपनी टेक्नीकल बोली में 'पद्मश्री' 'पद्मविभूषण' आदि विशिष्ट संकेतों से अपनी ओर बुलाने लगता है और ये विचारे भी बड़ी आतुरता से उधर खिंच जाते हैं। ब्रिटिश सरकार ने रवीन्द्र नाथ ठाकुर को 'नाइट' की उपाधि दी थी जिसको कवीन्द्र ने कुछ वर्षों तक धारण भी किया था किन्तु स्वाधीनता के युद्ध में उन्होंने फ़िरंगी सरकार के मुँह पर इसे दे मारा था। न जाने क्यों राजकीय प्रश्रय या मान्यता प्राप्त करते ही सामान्य व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है और चेहरे पर एक भिन्न प्रकार का मुखौटा चढ़ जाता है। लम्बी चौड़ी पदवियाँ और भड़कदार उपाधियाँ धारण करने वाले बहुतों की यही दशा होती है। तात्पर्य यह कि उच्चवर्ग, मध्य वर्गीय समाज को अनेक प्रलोभनों से फोड़ने की कोशिश करता है। मध्यवर्ग के इस अपमान को दूसरे शब्दों में सम्मान कहते हैं। मानसिंह, टोडरमल आदि को अकबर ने इसी नीति के अनुसार मनसबदार बनाया था।

तृतीय श्रेणी अथवा निम्न वर्गीय समाज की स्थिति इससे भिन्न होती है। इस वर्ग में कुली, छोटे छोटे उद्योग करने वाले, हलवाहे, चरवाहे, रेक्सा चालक, नाऊ, धोबी, कहार, भड़भूज, जुलाहा, मल्लाह, भेड़िहार, मेहतर, भिखारी, धुनिया, कुम्भकार, भर, कमकर, ग्वाला, मजदूर, चपरासी, अर्दली, पानी पाण्डे आदि होते हैं जो दिन रात जठर की ज्वाला को शान्त करने में लगे रहते हैं। इनमें एक उत्तमता यह अवश्य होता है कि ये प्रकृति के समीप होते हैं। इनका जीवन सीधा सादा और सरल होता है। ये विनयी और आज्ञाकारी होते हैं। इनमें कृत्रिमता की कृमि का विकास नहीं हो पाता। ये घातक और खतरनाक असामाजिक हथकण्डों से दूर होते हैं। कभी कभी प्रतिक्रिया में पड़कर ये शोख और मनमौजी हो जाते हैं। घृणित जीवन व्यतीत करते हैं किन्तु वास्तव में घृणा के पात्र नहीं हैं। उच्चवर्गीय समाज और मध्यवर्गीय समाज इनकी उपेक्षा करता है और ये उच्चवर्ग या मध्यवर्ग के व्यक्तियों का सम्मान करते हैं, स्वभावतः भय खाते हैं और दार्शनिक की भांति कभी कभी अपनी इस मानसिक अवस्था पर विचार करते हैं तथा अपने संस्कार एवं अपनी शिक्षा के अनुसार भाग्य अथवा दैव को इसका कारण मानकर



समझौता कर लेते हैं। इस वर्ग में भी जो मेधवी होता है और अवसर पा जाता है वह परिस्थितियों से लड़ झगड़ कर विशिष्टता प्राप्त कर लेता है। उसको मध्यवर्ग अथवा कभी कभी उच्चवर्ग में स्थान मिल जाता है। स्वाधीन भारत में इस वर्ग का जीवन क्रम बहुत कुछ बदला है। इस वर्ग के संरक्षण के निमित्त बने अधिनियमों एवं व्यवस्थाओं से इसको बहुत लाभ हुआ है। यही कारण है कि इस वर्ग से भी बहुतों का तबादला हुआ है। यह वर्ग धीरे धीरे मध्यवर्ग को चुनौती देने लगा है। नौकर बनाने वाली शिक्षा के व्यापक प्रचार के कारण इस वर्ग के व्यक्ति अब अध्यापक, कलर्क और हाकिम होने लगे हैं। प्रजातांत्रिक व्यवस्था के कारण इस वर्ग के व्यक्ति विधायक एवं मन्त्री होने लगे हैं। विभिन्न राजनैतिक पार्टियाँ प्रभुता की लड़ाई में विजयी होने की कामना से इस वर्ग से उसी प्रकार विश्राम करती हैं जिस प्रकार क्षीरसागर में भगवान विष्णु शेषनाग की शैया पर। जो सरकार सत्ता में होती है वह इसे अपना पाकेट मानती है। सत्ता में रहने के लिये इस वर्ग की भेड़ियाधसान-सहायता बहुत मूल्यवान है। अतः इसके तथाकथित उत्थान के निमित्त नियम और कानून भी इनके लिये कुछ लचक जाते हैं। प्रत्येक विभाग में इनकी जगहें रिजर्व रहती हैं। वह दिव्य स्थान इनको बड़ी सरलता से सुलभ हो जाता है। जिसको प्राप्त करने के लिये अन्यो की पार्वती-प्रतिभायें घोर तप और कठिन साधना में लीन रहा करती हैं। स्वाधीनता के इस युग में उच्चवर्ग और निम्नवर्ग का 'मोरेल' ऊँचे उठा है और मध्यवर्ग 'डिमॉरलाइज्ड' हुआ है। भासित तो यह होता है कि समाज में अब दो ही वर्ग हैं, एक उच्च वर्ग और दूसरा निम्न वर्ग। मध्यवर्ग है ही नहीं। भौतिक सुख भोग की दौड़ में बड़ी तेजी आ गयी है। मेरी कविता पुस्तक 'अश्वमेध यज्ञ' के खण्डित 'मध्यवर्गीय समाज' शीर्षक कविता से वर्तमान समाज की इस अवस्था पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है—

‘ताल मात्रा पर नचायी गयी इतनी
नष्ट हुई स्वाभाविक गति मेरी
सरगम को तोड़ फोड़ गाऊँगी—
मध्यवर्ग की यह व्यवस्था असह्य है
प्रकृति स्वयं साज एक
अब वही बजाऊँगी

उपर्युक्त विवेचन से यह नहीं समझना चाहिये कि स्वाधीन भारत में व्यक्ति और समाज के स्वाभाविक सम्बन्धों की स्थापना का योजनाबद्ध अभियान छेड़ दिया गया है। प्रत्युत इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति के अन्तरतम से व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले प्रकृतिप्रदत्त स्वाभाविक गुणों को उन्मूलित किया जा रहा है। आज का प्रत्येक व्यक्ति दुहरा हो गया है। प्रत्येक का दो रूप है— एक भीतरी और दूसरा, बाहरी। प्रत्येक व्यक्ति का मन समाज में व्याप्त इस नयी लहर से तरंगित है उसकी आत्मा अपने एकान्त में मन के वियोग में रोती रहती है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा से उसके मन का सम्बन्ध टूट गया है। प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरतम में मन और आत्मा का गहरा द्वन्द छिड़ा हुआ है। व्यक्तित्व का निर्माण तो तब होता है जब मन वाह्य उपकरणों से उपयुक्त तत्व ग्रहण कर आत्मा को निवेदित करता है और आत्मा के निर्णय पर उस तत्व से व्यक्ति का नये सिरे से निर्माण करता है। यही नव निर्मित व्यक्ति समाज बनाता है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, यह केवल कहने की बात है। यदि मनुष्य का व्यक्तित्व समाज के हित में न हो तो वह असामाजिक प्राणी कहा जायेगा। मनुष्य सामाजिक प्राणी भी है और असामाजिक प्राणी भी, दोनों कथन अपने अपने सन्दर्भों में सत्य है। समाज के हित में गढ़े गये व्यक्तित्वों से ही समाज की रचना एवं सुरक्षा होती है। इस प्रकार से रचित समाज दिव्य प्रभाव से युक्त होकर स्वर्ग के काल्पनिक सुख को चरितार्थ कर दिखाता है। संस्कार एवं शिक्षा की पद्धति जिसे



हम पुरानी कहकर त्याज्य समझ लेते हैं व्यक्ति में व्यक्तित्व निरूपित करती है। किन्तु हमारी आज की शिक्षा प्रणाली एक ओर दर्शन के क्षेत्र में डार्विन, फ्रायड और कार्लमार्क्स के विचारों से प्रभावित है तो दूसरी ओर वह व्यक्ति को व्यक्तित्व न प्रदान कर उसे अच्छा नौकर बनाती है जो डार्विन तथा मार्क्स के मतानुसार क्रमशः नास्तिक, विलासी और खाऊ-कमाऊ हो। लार्ड मैकाले के जमाने में अंग्रेजी हुकूमत में नौकरी पाने की लालसा से अंग्रेजी स्कूलों में भरती की होड़ लग गयी जिसके फलस्वरूप अंग्रेजी पढ़े लिखे नौकरों की संख्या में अनियंत्रित बाढ़ आ गयी। स्वाधीन भारत में टेक्निकल स्कूलों की संख्या में वृद्धि हुई और देश में बेकार मिस्त्रियों की भीड़ ठसाठस हो गयी। मध्यवर्ग के उच्चवर्ग में और निम्नवर्ग के मध्यवर्ग तथा उच्चवर्ग में दाखिल होने की होड़ सी लग गयी। व्यक्तित्व से विहीन व्यक्तियों के चेहरे देखते रहने और उनकी अर्थहीन भाषा सुनते रहने को समाज को अभ्यस्त होना पड़ गया। व्यक्ति भी हैं और समाज भी है किन्तु उनको परस्पर एक करने वाली बीच की कड़ी गायब हो गयी है। दोनों अपनी अपनी जगह स्वतंत्र हैं। दोनों एक दूसरे से अपरचित। समाजवादी और साम्यवादी शब्द अपना अर्थ खो बैठे हैं इन दोनों शब्दों के होते हुये भी न तो समाज रह गया है और न साम्य।

व्यक्ति, व्यक्तित्व का पहिरन अथवा लपेटन है। व्यक्तित्व व्यक्ति को ओढ़ता है। वायुमण्डलीय प्रभावानुसार इस पहिरन में या आवरण में विभिन्नता हो सकती है किन्तु पहिनने या ओढ़ने वाले में कोई भिन्नता नहीं होती। सामान्य मानव मन व मूल्य सर्वत्र समान हैं। महान आत्मायें और महापुरुष किसी एक देश के नहीं होते। सम्पूर्ण मानव जाति का उन पर सर्वदा के लिये समान अधिकार होता है। महात्मा गान्धी अथवा स्वामी विवेकानन्द विश्व में सर्वत्र पूज्य है। मदन मोहन मालवीय जी के गले की चादर और पगड़ी, महात्मा जी की लंगोटी विवेकानन्द का सन्यासी वेश, अवश्य अलग अलग ढंग का था किन्तु उनके विचारों का प्रभाव उसके ऊपर समान रूप से पड़ता था। भगत सिंह, चन्द्रशेखर आजाद, सुभाष चन्द्र बसु के आवरण पूर्णतया एक दूसरे से भिन्न थे किन्तु उनकी आत्मा में देश प्रेम एवं स्वतंत्रता की भावना समान थी। चन्द्रशेखर आजाद की लुंगी और भगत सिंह का हैट इसीलिए बहुत प्रिय है कि उनके विचार और भाव सम्पूर्ण समाज के हित में थे। जनता की दृष्टि की ठोकरी से घायल हैट भगत सिंह के सिर पर रत्न मण्डित मुकुट से कम नहीं प्रतीत होता। भगत सिंह के सिर पर यदि गान्धी टोपी हो तो उनकी पहचान लुप्त हो जायेगी। यह दृष्टान्त सिद्ध करता है कि व्यक्तित्व के कारण व्यक्ति भी पूज्य एवं मान्य होता है। गुणी का महत्व नहीं, गुण का महत्व है। आवरण नहीं है आवरण धारण करने वाले का महत्व है। व्यक्ति का महत्व नहीं व्यक्तित्व का महत्व है। व्यक्ति एवं व्यक्तित्व का तादात्म्य ही आदर्श है। ऐसे आदर्श व्यक्तियों से जब समाज बनता है तो सर्वत्र सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता है। अन्यथा बेचैनी असन्तोष, विद्रोह एवं अनेक प्रकार के घृणित कार्यों से समाज का रूप विकृत जर्जर एवं अनिश्चित रहा करता है। व्यक्ति से व्यक्तित्व के तादात्म्य का होना मात्र शिक्षा और संस्कार पर अवलम्बित है जिसकी स्वाधीन भारत में कोई सुनिश्चित स्थिति नहीं है। शिक्षा नौकरशाही की जननी बनाकर रखी गयी है। संस्कारों से झाड़ू लगाने का काम लिया जा रहा है। जब तक ये दो बड़ी ताकतें स्वतंत्र नहीं की जाती तब तक व्यक्ति और समाज का प्रश्न हल नहीं हो सकता। मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने की बात का तब तक कोई अर्थ नहीं होता। मनुष्य जितना सामाजिक है उतना ही असामाजिक। सी. ई. एम. जोड की निम्न उक्ति का समर्थन हम इस प्रसंग में कर सकते हैं—Let a man learn to become invisible at will and no virgin would be safe, the strongest box



will not be left unruffled. Man is moral not by nature but by law .

(Future of Morality)

इस कथन में मेरा यह संशोधन है कि मनुष्य को भय से नहीं मानवता की भावना से, कानून से नहीं शिक्षा और संस्कार से नैतिक बनाया जाय तो क्या हानि है। कानून से बनी नैतिकता से समाज षड़यंत्रों एवं चोरी से किये गये पापकर्मों का एक आगार होगा। मन शरीर की उपाधियों के कारण अवश्य ही मूल से कट जाता है और अपनी पिछली भूल जाता है। शिक्षा और संस्कार से मन को उसकी याद दिलायी जाय और वह यह अनुभव करे कि वह प्रकृति से दिव्य है, नैतिक है। भौतिक उपाधियाँ उसे अनैतिक बनाती है।

व्यक्ति में व्यक्तित्व को उभार कर उससे समाज की सामाजिकता का स्वरूप सुनिश्चित करके युग—चेतना अपने अनुरूप युग का निर्माण करती है। दार्शनिक, विचारक, कवि, कलाकार, सन्त—महात्मा, 'युग देवता' को अपनी आत्मा का अर्ध्य चढ़ाते हैं। समुचित शिक्षा और संस्कारों की पवित्रता से प्राणी कहलाने वाले मानव को समाज के रंग में रंगा जाता है। यही समाज युग की विचारधरा में अपना स्थायी योगदान करता है। प्रकृति की शक्ति इस बड़े अभियान में विश्वास के साथ अपने कर्तव्य का पालन करती है। उस कार्य में साहित्यकार की भूमिका प्रमुख होती है। अपनी रचनाओं द्वारा वह समाज के हित की सम्यक प्रकार से रक्षा करता है। उसकी कृतियाँ समाज को प्रभावित करती हैं और उसके विचारों को समाज कार्यरूप में परिणित करने लगता है। साहित्यकार भी एक साधारण व्यक्ति होता है किन्तु किन्हीं अप्रच्छन्न कारणों से उसके व्यक्तित्व में एक अलौकिक प्रभाव दिखने लगता है। निस्सन्देह उसका व्यक्तित्व प्रारम्भ में शिक्षा और संस्कार से ही बनता है। 'प्रथम रश्मि का आना रंगिणि, तूने कैसे पहचाना' अथवा 'वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान' यही संकेत करता है कि साहित्यकार अथवा कवि होने की दशायें आरम्भ में स्पष्ट नहीं होती। आह से गान निकला होगा पंक्ति में होगा' क्रिया अनिश्चय की सूचना देती है। प्रथम रश्मि के आगमन का पूर्व ज्ञान कैसे हुआ यह भी एक रहस्यमयी संदिग्धवस्था ही है। अन्य सूत्रों से भी मेल बिठाने पर यही प्रतीत होता है कि साहित्यकार होने की पूर्व दशा अनिश्चित है किन्तु पूर्व दशा के अनिश्चित होते हुये भी उसके ऊपर परवर्ती दशायें कम प्रभाव नहीं डालतीं। परवर्ती दशा शिक्षा और संस्कार है जो उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता है जिसमें अप्रच्छन्न अलौकिकता खेलती रहती है। महानता या असाधारणता की ओर अग्रसर होने की यह भूमिका बहुत कुछ सुनिश्चित है। साहित्यकार की गणना भी उन्हीं महान अथवा असाधारण व्यक्तियों में की जाती है।

किन्तु आज का साहित्यकार वर्ग स्वाधीन भारतीय समाज से बहुत हद तक प्रभावित है। संस्कारों के प्रति उसमें न तो आकर्षण है, न आस्था। शिक्षा उसकी भी वही है जो सबकी है। जिन विद्यालयों से नौकर पैदा होते हैं उन्हीं में से वह भी लेखक या साहित्यकार होकर निकलता है। जो तथ्य प्रत्यक्ष नहीं हैं वे उसके लिये अर्थहीन संज्ञायें हैं। जो तथ्य प्रत्यक्ष हैं, उनसे मात्र असन्तोष की भावना बढ़ती है। इसीलिये आज का साहित्यकार अपना सन्तुलन खो बैठा है। पराधीन भारत में भी इस प्रकार के सन्तुलन का अभाव था किन्तु उस समय एक सामान्य कारण सबको 'पराधीन होना' दीखता था। पराधीनता अपने व्यापक अर्थ में जीवात्मा के कष्ट से लेकर अंग्रेजों के अत्याचार तक विस्तार ग्रहण किये हुई थी। इसीलिये उस युग में राष्ट्रीय कवितायें और छायावादी कवितायें बहुत लोकप्रिय थीं! निराला जी उस युग की भावना के जीवित प्रतीक के रूप में सर्वत्र मान्य थे प्रसाद जी की 'कामायनी' पन्तजी के 'पल्लव', मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती', सुमद्राकुमारी चौहान के 'मुकुल' पाण्डेय जी की 'हल्दीघाटी',



दिनकर के 'हुंकार' में युग चेतना नयी सम्भावनाओं से मुस्का उठी थी। बच्चन जी की 'मधुशाला' में भी लोग अपनी नशीली आशा का कोई न कोई रूप पा जाते थे। शिक्षा और संस्कार यद्यपि आज के ही समान थे किन्तु पराधीनता की दशा से प्रत्येक भारतीय में बेचैनी थी। तत्कालीन शिक्षा की निरर्थकता का ज्ञान सबको हो गया था। अब कोई नौकर होना नहीं चाहता था। इसीलिये स्कूलों के बहिष्कार का नारा भी उस समय बड़ा लोकप्रिय हुआ। एक अनोखे प्रकार की मानसिक शिक्षा का आन्दोलन प्रकृतया छिड़ा हुआ था और व्यक्ति व्यक्ति में एक ही प्रकार का व्यक्तित्व तैयार होने लग गया था। समाज में भी बड़ी सक्रियता थी। प्रत्येक व्यक्ति एक उत्सव, एक समारोह की तैयारी में लगा था।

स्वाधीन भारत में पहली बातें बदल गयीं। आकर्षण की नयी नयी सूरतें एकाएक सामने खड़ी होकर मुस्कराने लगीं। माया मोह के फराने भाण्ड झन-झना उठे। समाज की विचारधारा ने तेजी के साथ एक मोड़ लिया। समाज निर्माण के प्रभाव रहित प्रयत्नों ने काल्पनिक और थोथी योजनाओं को रूपान्तरित करने का अभियान ठान लिया। गुलाम बनाने के कारखानों में तेजी आ गयी। अनगिनत नये-नये विद्यालय खोल दिये गये! इंजीनियरिंग एवं टेक्निकल तथा मेडिकल कालेजों की स्थापनायें सर्वत्र धड़ाधड़ होने लगीं। अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजियत के ढूँठ को हरा भरा करने के लिये बड़े बड़े बाँध और प्लांट विदेशी पूँजी पर बनाये गये। गान्धीजी के रामराज्य की कल्पना कल्पना ही रह गयी। वे अपने हरे-भरे उद्यान में प्रार्थना भी करते रहने के लिये जीवित नहीं छोड़े गये। राजनीति के चोंगे में अनेकमुखी राजनीतिक पार्टियाँ खुल कर खेलने लगीं और अपनी छल की भाषा में लोक शिक्षण का कार्य बड़े पैमाने पर करने लग गयीं। साहित्य के क्षेत्र में भी राजनीतिक प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। पुरस्कार प्रश्रय, अनुदान, उपाधि, पद आदि प्राप्त करने की होड़ में साहित्यकारों ने अनोखा स्वाँग धारण कर लिया। विदेशी पूँजी की छाँह भी साहित्यकारों को मिलने लग गयी। तत्काल साहित्यिक बन जाना अत्यन्त आवश्यक था, अन्यथा प्रतियोगिता की दौड़ में पीछे रह जाने पर रोटी के लाले पड़ जाते। अतएव साहित्यिक कहलाये जाने के लिये परम्परा का विरोध करना एक नियम हो गया। प्राचीनता एवं परम्परा की कड़ियों को ढीला करने में अंग्रेजी और अंग्रेजियत की खाद बहुत उपयोगी साबित होने लगी। अमेरिका, ब्रिटेन और रूस की दौड़ शुरू हो गयी। विशिष्ट साहित्यिकों का डेफेशन विदेशों में भेजा जाने लगा। विदेशी भाषाओं में अपनी कृतियों के अनुवाद द्वारा विदेशी बाजार पर अपना अधिकार बनाने का एक हौसला पैदा हो गया। साहित्यकारों ने प्रचार का पंख लगा कर आसमानी दौड़ शुरू कर दिया। स्वार्थ की किलेबन्दी भी की जाने लगी। बहुप्रचारित, राजकीय संरक्षण में पोषित साहित्यकारों का एक विशिष्टवर्ग तैयार हुआ। अलग-अलग गिरोहों में साहित्यकार संघटित होने लग गये। नयी विचारधारा के अनुसार सब वर्गों ने मिलकर सबसे पुनीत काम किया छायावादी युग का श्राद्धकर्म। छायावादी युग के नाम पर पहले तो पचरा गाये गये, बाद में भाषा, शैली, विषय वस्तु, कथ्य और तथ्य को लेकर ऐसा झमेला खड़ा किया गया कि हिन्दी साहित्य के कार्यक्षेत्र में वितण्डावादी युग प्रारम्भ हुआ। सबने अपनी-अपनी दृष्टि से समाज की कल्पना की 'उषा देवता से लेकर गध तक, नग्न यौन भावना से लेकर सामाजिक क्रान्ति तक, कल पुर्जों से लेकर देहात की अमराई तक' का विस्तार ग्रहण करते हुए आधुनिक काल की कविता ने स्वतंत्रता की भावना की वह जबर्दस्त छीछा-लेदर कर डाला कि साहित्य की आत्मा कराह उठी। धीरे-धीरे यह सारी सरगर्मी ठण्डी पड़ने लग गयी। कुण्ठा का युगारम्भ हो गया। बहुत बहके किन्तु जीवनदर्शन के अभाव में सबको यह प्रतीत हो गया कि यह सारी छलांग और उछल कूद डारविन तथा कार्ल मार्क्स के इर्द गिर्द लगाये जा रहे हैं। मानव जीवन का श्रेष्ठतम उद्देश्य क्या है यह तथ्य इनकी दृष्टि से ओझल ही रहा। समाज की रचना



अपने-अपने ढंग से करते हुए हमारे आज के साहित्यकार अन्ततोगत्वा साहस खो बैठे। भौतिक सफलतायें तो इन्हें मिली किन्तु इनको आत्मिक शान्ति नहीं प्राप्त हुई। जिनको यह महानता नहीं मिली वे बेचारे कवि सम्मेलनों पर जीवन यापन करने लग गये। कवि सम्मेलनों ने इनकी बेकारी की समस्या को कुछ जरूर हल किया किन्तु कवि सम्मेलनों के सफल कवियों को आश्चर्य है कि उन्हें युग की स्वीकृति क्यों नहीं मिलती ? थोड़े बहुत हेर फेर के साथ जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र में यही दशा है। सभी बड़ी तेजी के साथ किसी अनिर्दिष्ट निशा की ओर भागे जा रहे हैं। कहाँ जा रहे हैं इन्हें नहीं पता। राजनीति ने व्यक्ति-व्यक्ति के विचारों के घेर रखा है। शिक्षा के जगत में राजनीति, राजनीति में अध्यापक संलग्न, राजनीति में छात्र समुदाय निमग्न, राजनीति में गाँव लीन, राजनीति में असामाजिक तत्व भी संयुक्त, राजनीति में घर कुटुम्ब परिवार संतुलित। स्वतंत्रता क्या मिली राजनीति का भूत सामाजिकता पर सवार हो गया। सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न हो गया ! व्यक्ति टूट-फूट गया। मानवता विदा हो गयी। ऐसे में राजनीतिक सरगर्मी बढ़ गयी। पूँजीपति, चोर बाजारी, काला व्यापार, स्मगलिंग का धन्धा, भ्रष्टाचार, घूसखोरी, हत्या काण्ड, डाकेजनी आदि नवीनतम और आधुनिकतम तत्व भड़कीली पोषाक में सीना फुलाकर, सिर उठाकर, सड़कों पर मचलने लगे और सार्वजनिक सम्मान प्राप्त करने लगे। राज्यतन्त्र, साम्राज्यवाद, एकतन्त्रवाद आदि तो नहीं रहे किन्तु शिक्षा और संस्कार से विहीन व्यक्तियों का समाज प्रजातांत्रिक व्यवस्था को लेकर पीड़ा से कराह रहा है। गृद्ध-कूट पर्वत पर आनन्द को सम्बोधित करते हुये गौतमबुद्ध ने लिच्छवियों की शक्ति एवं सफलता का जो रहस्य उद्घाटित किया था वह याद आता है और यह भी याद आता है कि किस प्रकार अजातशत्रु ने सात हजार सात सौ सतहत्तर को तोड़फोड़ कर लिच्छवियों को परास्त किया और किया गणराज्य का विनाश। जब तक व्यक्ति व्यक्तित्वविहीन रहेंगे तब तक समाज नहीं बन सकेगा और सम्पूर्ण प्रयत्न असफल सिद्ध होंगे।

समाज रचना और मानवता की भावना की दृष्टि से तैयार किये गये व्यक्तियों में लोक सामंजस्य का भाव होता है, उनकी गति किसी ऐसी सुनिश्चित दिशा में होती है जिसका उन्हें ज्ञान होता है और जिधर जाने में उनकी आत्मा को सन्तोष होता है। इन्सानों का काफिला रोजे अजल से जिधर को जा रहा है उधर को न जाकर आज का इन्सान आखिर जाएगा तो किधर ? युग की ठोकरीं खाकर तथा प्रकृति की चपेट में आकर चाहे अनचाहे, जाने अनजाने मनुष्य को पूर्व निर्दिष्ट दिशा में जाना ही होगा! रोते हुये, पछताते हुये चलते रहने से अच्छा तो यही है कि गाते बजाते तथा झूमते हुये मंजिल की ओर अग्रसर हुआ जाय। कृत्रिमता के स्वनिर्मित जाल से निकल कर, स्थायी मानव मूल्यों की अनुभूति में पक कर, मानव मानव को निकट लाकर समाज की सुन्दरता में उत्तरोत्तर वृद्धि करना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिये। इस दिशा में साहित्यकार की भूमिका सबसे अधिक मूल्यवान होगी। साहित्यकार का व्यक्तित्व असाधारण शक्ति सम्पन्न होता है किन्तु क्षीर सिंधु 'काँजी सीकरन भले न विनष्ट होता हो असत्य का क्षुद्रतम अंश भी सत्य को विकृत कर देता है। विभ्रम की कोई भी मात्रा निश्चय को बदल देती है। निजी स्वार्थ, प्रलोभन, कामुकता, ऐश्वर्य-भोग आदि लौकिकता की अनेकमुखी रंगीन उपलब्धियों को आगे रखकर कितना हूँ जोर का नारा क्यों न लगाया जाय, साहित्यकार शब्द की सही व्याख्या नहीं हो सकेगी। साहित्यकार भी व्यक्ति है, सामाजिकता से वह अलग नहीं हो सकता।

नयी सम्भावनाओं से भरापूरा युग नूतन अभिजात के समक्ष मुस्करा रहा है। पराधीन भारत में बूढ़ों की अकल दुरुस्त थी। स्त्री, बच्चे, युवक, बड़े, बूढ़े सबने 'युग देवता' की आरती सहगान गाकर उतारी थी। स्वाधीन भारत की बात निराली है। सबको असन्तोष है। युवा वर्ग बुरी तरह पिस रहा है। अनोखी छीना झपटी का सिलसिला जारी है। हमारा बड़ा-बूढ़ा महान भारत चिर



इतिहास का दर्द



यौवन से भरपूर है। आज का नवयुवक वर्ग ही इस भारत का हकदार है। बड़े-बूढ़ों को चाहिये की वे शाश्वत यौवन सम्पन्न भारतवर्ष को नवयुवकों के हवाले कर दें। आसक्ति की भावना को वे अपने मन से हटा दें। समय का तकाजा है और यही उचित भी, नूतन का राजतिलक स्वयं पुरातन से हो।

